ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
सेवा-निवृत्त रीडर जैन-बौद्धदर्शन, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

*

समाधिमरणोत्साहदीपक

*

लेखक :
श्रीमत्सकलकीर्तिगणि

*

ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

*

प्रकाशक
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
प्लॉट नं० ४, भोगावीर कॉलोनी,
लंका, वाराणसी-५ (उ० प्र०)।

*

द्वितीय संस्करण . ५०० प्रति
१९८४

*

मूल्य : छह रुपए

*

मुद्रक
सन्तोष कुमार उपाध्याय,
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी।

विषयानुक्रम

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चई तिव्व-भत्ति-राएण।
भोत्तूण य देवसुख सो पावदि उत्तमं ठाणं॥

भ० आ०।

'जो साधु व श्रावक अत्यन्त भक्तिके साथ सल्लेखना-धारकके चरणोंमे जाता है वह देवगतिके सुखोको भोगकर उत्तम स्थान-निर्वाणको प्राप्त होता है।'

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमत्तूण॥

भ० आ०।

'जो जीव एक भवमे समाधिमरण करके मरणको प्राप्त होता है वह जीव सात-आठ भवसे अधिक संसारमे परिभ्रमण नही करता है।'

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

युगवीर-निबन्धावली (प्रथम खण्ड) और तत्त्वानुशासन (ध्यान-शास्त्र) नामक दो महान् ग्रन्थोको गत वर्ष प्रकाशित करनेके अनन्तर आज हमे एक ऐसे नये ग्रन्थको पाठकोके हाथोमे देते हुए प्रसन्नता होती है, जो अबतक अनुपलब्ध था, जिसका नाम तक भी सुननेमे नही आता था और न किसी शास्त्र-भण्डारकी सूचीमें देखनेको ही मिलता था, जिसे कुछ अर्सा हुआ, वीरसेवामन्दिरके सस्थापक श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने, सवा महीना अजमेर ठहर कर वहांके बडा धड़ा पचायती जैन-मन्दिर स्थित भट्टारकीय शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, एक प्राचीन जीर्ण-शीर्ण गुटकेपरसे खोज निकाला है और जिसका प्रथम संक्षिप्त परिचय उन्होने अनेकान्त वर्ष १४ की सयुक्त किरण ३-४ मे 'पुराने साहित्यको खोज' शीर्षकके नीचे अपने पाठकोको दिया है। उसी समयसे जो पाठक इस अनुपलब्ध ग्रन्थके दर्शनोके इच्छुक थे उनके हाथोमे अब यह जा रहा है। अतः उनके लिये भी एक प्रसन्नताका विषय है। इस ग्रन्थका नाम है–'समाधिमरणोत्साहदीपक'। जिस समाधिपूर्वक मरणकी हम अपने नित्यके पूजापाठादिके अवसरोपर बराबर भावना भाते है उसी विषयमे उत्साहकी वृद्धि तथा विधि-व्यवस्थाके लक्ष्यको लिये हुए यह ग्रन्थ है, जो कि एक बडा ही महत्त्वपूर्ण विषय है और जिसकी महत्ता, उपयोगिता एवं आवश्यकताको मुख्तारश्रीने अपने 'प्राक्कथन' मे और मैंने अपनी 'प्रस्तावना' मे व्यक्त किया है।

मुख्तारश्रीने अपने ८१ वें जन्म-दिवसके अवसरपर इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके लिये पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीको योजना की थी, जो उस समय वीरसेवामन्दिरमे साहित्य-सेवाका कार्य कर रहे थे। शास्त्रीजीने जो अनुवाद प्रस्तुत करके मुख्तारसाहबको दिया वह प्राय शब्दानुवादके रूपमे है, उसीको इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित किया जा रहा है, जिसके लिये सस्था शास्त्रीजी और मुख्तारजी दोनोकी कृतज्ञ है।

मुख्तारसाहबकी रुचि उत्तरोत्तर अध्यात्मकी ओर बढ रही है वे ग्रन्थ-प्रकाशनकी जिम्मेदारीको अब अपने ऊपर रखना नही चाहते।

अतः उनके इस भारको मैंने खुशीसे अपने ऊपर ले लिया है। अब संस्था वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट—के सब ग्रन्थ प्रायः वाराणसीसे मुद्रित तथा प्रकाशित हुआ करेंगे। इस ग्रन्थके परिशिष्टोंमें 'मृत्यु-महोत्सव' आदि कई संस्कृत तथा हिन्दी उपयोगी पाठोंकी भी योजना की गई है, जिसमें परलोक-यात्रीके हृदयमें उत्साहकी वृद्धि हो, वीरता जगे और उसके सारे दुःख, कष्ट तथा भय भागें।

वाराणसीमें ट्रस्टके ग्रन्थ-प्रकाशन-कार्यमें मुझे श्रीमान् पं० फूलचन्द्र-जी और पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रियोंका तथा सुहृद्वर प्रो० अमृतलालजी जैनदर्शन-साहित्याचार्यका बराबर परामर्शादिका सहयोग मिल रहा है, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीने ग्रन्थकार सकलकीर्तिका जो परिचय सकलकीर्ति-रास, ऐतिहासिक-पत्र और पट्टावली आदिके आधारपर लिखकर भेजनेकी कृपा की है उसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

नया संसार प्रेसके स्वामी श्रीशिवनारायण उपाध्यायजीने इस ग्रन्थ-का तत्परताके साथ सुन्दर मुद्रण किया, एतदर्थ उन्हें तथा प्रेसके सब कर्मचारियोंको भी धन्यवाद है।

आशा है, युगवीर निबन्धावलीके द्वितीय खण्डको तथा देवागम (आप्तमीमांसा) के मुख्तारश्रीकृत स्पष्टार्थादियुक्त हिन्दी अनुवादको भी हम शीघ्र ही पाठकोंके हाथोंमें देनेके लिये समर्थ हो सकेंगे।

८१ नई कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी,
११ सितम्बर १९६४

दरबारीलाल कोठिया,
मन्त्री, 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

प्रस्तुत 'समाधिमरणोत्साहदीपक' का प्रथम संस्करण ई० सन् १६६४ मे प्रकाशित हुआ था। यह कई वर्षसे अप्राप्य था और पाठकोकी इसके लिए बहुत माँग हो रही थी। हमे खुशी है कि अब बीस वर्ष बाद उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

किन्तु समाजमे जैन साहित्यको पढनेकी रुचि एवं उत्साह नहीके बराबर है। अन्यथा ऐसे ग्रन्थोका प्रकाशन हजारोकी संख्यामे होना चाहिए। ज्ञानार्जन व उसके प्रचार-प्रसारकी ओर समाजकी यह उपेक्षा वस्तुत चिन्तनीय है। हमे आशा है उसकी यह उपेक्षा अवश्य दूर होगी।

इसका सन्तोष है कि वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट अब तक लगभग छब्बीस ग्रन्थोका प्रकाशन कर चुका है। और शीघ्र ही पाँच ग्रन्थ और प्रकाशित हो रहे हैं।

सबके सहयोगके लिए धन्यवाद।

४ जुलाई, १६८४
प्लाट न० ४, भोवीर कॉलोनी,
लंका, वाराणसी-५

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मानद मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट

था। अत ये घरमे उदासीन भावसे रहते थे। माता-पिताने इनकी उदासीन वृत्ति देखकर इन्हे वहुत समझाया और कहा कि 'हमारे पास प्रचुर धन-सम्पत्ति है वह किस काम आवेगी ? संयम-पालनके लिए तो अभी वहुत समय पडा है।' परन्तु पूर्णसिंह ४ या ६ वर्षसे ज्यादा घरमे नही रहे और २० वर्णकी अवस्थामे वि० स० १४६३ मे 'नेणवा' ग्राम आकर भ० प्रभाचन्द्रके पट्टशिष्य मुनि पद्मनन्दिके पास दीक्षित हो गये और उनके पास आठ वर्ण रहकर इन्होने जैन सिद्धान्तका अध्ययन किया। गुरुने इनका नाम 'सकलकीर्ति' रखा और तवसे—दीक्षाकालसे—ये 'सकलकीर्ति' के नाममे विश्रुत हुए[1]।

किन्तु यश कोति-मण्डार ऋपभदेवकी पट्टावलीके अनुसार इन्होने १८ वर्णकी अवस्थामे दीक्षा ली थी और २६ वर्णकी अवस्थामे 'नेणवा' आये तथा वहाँ ८ वर्ण तक रहे थे। पश्चात् ३४ वर्णकी अवस्थामे 'आचार्य' पद प्राप्त किया था। तदनन्तर वे अपने प्रदेशमे वापस आ गये और धर्म-प्रचारका कार्य करने लगे। इसी पट्टावलीमे उल्लिखित एक घटनाके आधारपर कहा जा सकता है कि उस समय वे नग्न अवस्थामे रहते थे और वागड प्रदेशमे विहार करते थे। वह घटना इस प्रकार है :—

जव वे एक वार 'खोडणा' नामक नगरमे आये और नगरके वाहर उद्यानमे ध्यान लगाकर वैठ गये तो उधर नगरमे एक श्राविका पानी भरनेके लिए कुएँ पर आई और नग्न साधुको वैठा देखकर वापस जा अपनी सासुसे उसने कहा कि 'कोई नग्न साधु नगरके वाहर उद्यानमे वैठा हुआ है, जिसके पास लकडीका कमण्डलु और एक मोर-पिच्छिका है।' यह सुनकर उसकी सास वहाँ गई और उन्हे त्रिवार 'नमोस्तु' कहकर उनकी उसने तीन प्रदक्षिणाएँ दी। आचार्य महाराज मौनव्रत लिए हुए थे, इसलिए उन्होने उसे कोई उपदेश न देकर केवल हाथ उठाकर 'धर्मवृद्धि' दी[2]।

इन दोनोंके अतिरिक्त ऐतिहासिक पत्रमे लिखा है कि सकलकीर्तिने पद्मनन्दीसे २६ वर्णकी अवस्थामे दीक्षा ली। और आठ वर्ण उनके पास अध्ययन किया। स० १४७१ मे ३४ वर्णकी अवस्थामे आचार्य

१ देखिए, सकलकीर्तिरास (अप्रकाशित), जो सकलकीर्तिके शिष्य ब्रह्मचारी जिनदासका रचा हुआ है।

२ देखिए, यश.कीर्ति, भट्टारक-पट्टावली।

अवस्थामे 'खोडणा' गाँवमे गए। बागड व गुजरातमे २२ वर्ण तक नग्न-विहार किया। और ५६ वर्णकी अवस्थामे १४९९ मे महासाना ग्राममे स्वर्गवासी हुए। जैसा कि उक्त पत्रके निम्न उद्धरण-वाक्यसे प्रकट है :—

'श्री ढुंढाहड देश माहै ग्राम नैणव (नैनवा) जईने भट्टारकजी श्रीप्रभाचन्द्रजी त्यहनै पाट भट्टारक श्रीपद्मनंदी पासै जाईनै दीक्षा लीधी। आचार्य श्रीसकलकीर्ति वर्ष २६ छवीसनी संख्या (अवस्था) हत्थी, ती वारें संयम लेई वर्ष ८ श्रीगुरुपासे रहीनै व्याकर्ण भण्या, तथा काव्य तथा न्यायशास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्र, गोम्मटसार तथा त्रिलोकसार तथा पुराण सर्वे तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि ? सर्वशास्त्र पूर्व देश माहै रहोने ८ वर्ष माहै भणिनै श्रीवागड गुजरात माहै गाम खुडंणे पधारया। वर्ष ३४ नी अवस्था थई। तीवारे सं० १४७१ वर्षे खुडंणे पधारया। सो दीन ३ तो कैणं आचार्य ऊ लखा नाही, पीछैं सो साह श्रीपोचा-गृहे आहार लीधो। तेहा थकी श्रीवागडदेश तथा गुजरात देशमाहि विहार कीधो। वर्ष २२ पर्यंत नग्न हता जुमले वर्ष ५६ छपन पर्यंत आवर्दा (आयु) भोगवीने धर्मप्रभवीने सं० १४९९ गाम मेसाणे गुजरात त्याहीने श्रीसकलकीर्ति स्वर्गलोक तथा जैसी गति बंध होतो ते बंध बाधिनै प्रोक्ष (परोक्ष) थयाजी[1]।'

परन्तु रासमे १८ वर्षकी अवस्थापे स० १४६३ मे पद्मनंदिसे दीक्षा लेने, सयम पालने तथा आचार्यपद पानेकी बात कही गई है[2]। इससे दोनो कथनोमे परस्पर अन्तर हो गया है, जो किसी भूल वा गलतीका परिणाम जान पडता है[3]। पत्रकी बात कुछ सही जँचती है।

---

१. यह ऐतिहासिक पत्र जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग ११, पृ० ११३ पर छपा है।

२ वित पत्र वरस अठार सवल पणि सयम लेइए ॥ २६
चउद त्रसठि वीस खंडलि धन विनु वे चीऊए।
मोह मान मद मूकि पदमनदि गुरु दीखियाए ॥ २७
पच महाव्रत धार पचइ इद्री जणि वश करीइ।
चहुदिसि करि विहार सकलकीर्ति गणहररयण ॥ २८
नयणाची हुनि रूप आचारिज पद पामीयूए। – (सकलकीर्तिरास)

३ जहाँ तक हमने इस विषयपर विचार किया है, हमे वह भूल या गलती मुख्यत. सवत्को लिखने अथवा पढनेको जान पडती है। सकलकीर्तिरासमें जो दीक्षाका सवत् दिया गया है वह 'चउद उनसत्तरि' के स्थानपर 'चउद त्रसठि'

तपश्चर्या और धार्मिक कार्य :

सकलकीर्तिने अपने तपस्वी जीवनमे अनेक तपों एवं कठोर व्रतोका आचरण किया था। उनके उन तपोके कुछ नाम इस प्रकार हैं —रत्नावली, सिंहविक्रम, सर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, मुक्तावली, विमानपंक्ति, मेरुपंक्ति और नन्दीश्वरपंक्ति[1] आदि आदि। एकान्तर उपवास आदि तो उनके लिए बहुत साधारण हो गये थे।

उनके धार्मिक कार्योपर दृष्टिपात करनेपर ज्ञात होता है कि उन्होंने गुजरातमें विहार कर वहाँकी धार्मिक शिथिलताको दूर किया था। अनेक जिन-मन्दिर बनवाये और उनमे अनेको जिन-मूर्तियोकी प्रतिष्ठा करवाई। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ राजस्थान और गुजरातमें उपलब्ध होती है। यह बताना कठिन है कि उन्होने अपने जीवनमे कितनी प्रतिष्ठाएँ कराई थी। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि सं० १४८७ से १४९७ तककी इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलती है। इन्होने ३४ वर्षकी आयुसे लेकर ५६ वर्षकी आयु पर्यन्त लगातार २२ वर्ष-तक वागड तथा गुजरात प्रान्तमें विहार किया था। नोगावमें नन्दीश्वर द्वीपके ५२ चैत्यालयोकी स्थापना कराई थी। सं० १४८२ मे डूगरपुरमे

लिखा या पढा गया जान पडता है। सवत्के १४६९ होनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षा २६ वर्षकी अवस्थामें हुई है, क्योंकि जन्मसवत् १४४३ है। यदि जन्मका तथा दीक्षाका महीना मालूम हो और उनकी दृष्टिसे दीक्षाके समय स० १४७० आ गया हो तो उक्त पाठ 'चउद सत्तरि' भी हो सकता है। और इस तरह तीनो उल्लेखोकी सगति ठीक बैठ सकती है।

अब रही १८ वर्षकी अवस्थामें दीक्षाकी बात, वह मुनि दीक्षाकी बात नही, बल्कि सयम लेनेकी बात है और वह सकलसयम न होकर देशसयम है, जिसे लेकर सकलकीर्ति गुरु पद्मनन्दिके पास प्राय. आठ वर्ष तक विद्याध्ययन करते रहे हैं। आवश्यक विद्याकी पूर्णतापर उन्हे दीक्षा दी गई है, और ऐसा बहुधा होता है। दीक्षा उनकी भट्टारकीय प्रथाके अनुसार ही हुई है, जिसमें वे सवस्त्र रहे जान पडते है। जब उन्हें आचार्यपद प्राप्त हो गया और वे अपने विषयमें स्वतन्त्र हो गये तबसे उन्होने नग्न—दिगम्बर वेष धारण किया और उसी रूपमें २२ वर्ष तक विहार किया है। अन्यथा दीक्षाके समयसे ही यदि वे नग्न हो गये होते तो उनका नग्नरूपमें विहारकाल २२ वर्षका न होकर ३० वर्षका होता।

—सम्पादक

१. इन व्रतोका स्वरूप हरिवंशपुराणादिसे जाना जा सकता है।

संघपति नरपालके समयमे दीक्षा-महोत्सव किया गया था। सं० १४९२ में गलियाकोटमे 'आचार्य' पद स्थापन किया और चतुर्विशति-जिनबिम्व-प्रतिष्ठा सघपति मूलराजने कराई। 'झाडुलि' नामक स्थानमे भी प्रतिष्ठा कराई गई थी।

नागद्रह (नागदा), जो उदयपुरमे एकलिंग मदिरके पास ही खण्डहर स्थान है, किसी समय राजधानी था और समृद्ध नगर था। यहाँका प्रसिद्ध राजा जैलसिह था। यहाँ १३वी, १४वी शताब्दोमे अनेक जैन-मन्दिरोका निर्माण हुआ था। उनमे कुछ खण्डहर हो गये और कुछ अव भी मौजूद है। इस नागद्रहमे संघपति ठाकुरसीहके अनुरोधसे जिनविम्व-प्रतिष्ठा हुई थी। डूगरपुरमे भी सं० १४९० मे वैशाख सुदी ९ शनिवारको आदिनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई गई थी और २४ तीर्थंकरोको मूर्तियोको भी प्रतिष्ठित किया गया था। सकलकोर्तिने अनेक तीर्थोंकी यात्राएँ भी की थी। इन सब धार्मिक प्रवृत्तियोंसे सकलकीर्तिकी धार्मिक रुचि एव श्रद्धा विशेष एवं व्यापक जान पडती है।

साहित्य-रचना :

सकलकीर्ति न केवल धर्म-प्रभावक आचार्य थे, किन्तु वे साहित्य-स्रष्टा भी थे। उनके द्वारा रचित लगभग ३७ ग्रन्थोकी सूचना मिलती है। इनके किसी भी ग्रथमे रचना-कालका उल्लेख नही है, फिर भी यही जान पडता है कि वे चातुर्मास-कालोंमे रचे गये होगे। सं० १४८१ मे इन्होंने वडालीमे पार्श्वनाथ मन्दिरमे चातुर्मास किया था। इस चातुर्मासमे उन्होंने अपने शिष्य एव लघुभ्राता ब्रह्म जिनदासके अनुरोधसे मूलाचारप्रदीपकी रचना की थी। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोके नाम इस प्रकार हैं --

१. मूलाचार-प्रदीप, २ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, ३ आदिपुराण, ४ उत्तरपुराण, ५ शान्तिनाथचरित, ६. वर्धमानचरित, ७ मल्लिनाथ-चरित, ८ यशोधरचरित, ९ धन्यकुमारचरित, १० सुकमालचरित, ११ सुदर्शनचरित, १२ जम्बूस्वामी चरित, १३ श्रीपालचरित, १४ सद्भाषितावली, १५. पार्श्वनाथपुराण, १६ सिद्धान्तसारदीपक, १७. व्रतकथाकोष, १८ पुराणसारसग्रह, १९ तत्वार्थसारदीपक, २० परमात्मराजस्तोत्र, २१. आगमसार, २२ आराधनाप्रतिबोधसार, २३ सारचतुर्विशतिका, २४ द्वादशानुप्रेक्षा, २५. पञ्चपरमेष्ठीपूजा, २६ अष्टाह्निकापूजा, २७ सोलहकारणपूजा, २८. गणधर-वलयपूजा,

२६. नेमीश्वरगीत, ३० मुक्तावलीगीत, ३१. णमोकारगीत, ३२. सोलह-कारणरास, ३३. शिखामणरास, ३४. रत्नत्रयरास, ३५ कर्मविपाकरास, ३६. पार्श्वनाथाष्टक, ३७. समाधिमरणोत्साहदीपक।

स्वर्गवास ·

आचार्य सकलकीर्ति अपनी ५६ वर्षकी अवस्थामे महसाना (गुजरात) जाकर वहाँ सं० १४६६ मे स्वर्गवासी हुए थे। वहाँ उनका स्मृति-स्थान भी बना हुआ है।

इस प्रकार सकलकीर्ति-रास, ऐतिहासिक-पत्र और भट्टारक पट्टावली आदिपरसे संकलित किया गया यह आचार्य सकल-कीर्तिका संक्षिप्त परिचय है।



प्राक्कथन

समाधि-पूर्वक मरण

देहके स्वतः छूटने, छुडाने तथा त्यागनेको 'मरण' कहते है, जिसका आयु-क्षयके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है[1]। जो जन्मा है उसका एक-न-एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह किसी भी विधिसे क्यो न हो। ऐसा कोई भी प्राणी संसारके इतिहासमे नही, जो जन्म लेकर मरणको प्राप्त न हुआ हो। वडे-वडे साधन-सम्पन्न राजा-महाराजा, चक्रवर्ती, देव-दानव, इन्द्र-धरणेन्द्र, वैद्य-हकीम-डाक्टर और ऋषि-मुनि तक सबको अपना-अपना वर्तमान शरीर छोडकर कालके गालमे जानेके लिये विवश होना पडा है। कोई भी दिव्य-शक्ति-विद्या-मणि-मन्त्र-तंत्र-औषधादिक किसीको भी काल-प्राप्त मरणसे वचानेमे कभी समर्थ नही हो सके है। इसीसे **'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्'**—मरना देहधारियोकी प्रकृतिमे दाखिल है, वह उनका स्वभाव है, उसे कोई टाल नही सकता—यह एक अटल नियम बना हुआ है।

ऐसी स्थितिमे जो विवेकी है—जिन्होंने देह और आत्माके अन्तरको भले प्रकारसे समझ लिया है—उनके लिये मरनेसे डरना क्या? वे तो समझते है कि जीवात्मा अलग और देह अलग है—दोनो स्वभावत एक दूसरेसे भिन्न है—जीवात्मा कभी मरता नही, मरण देहका होता है, जीव एक शरीरको छोडकर दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले-कुचैले तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रको त्यागकर नया वस्त्र धारण किया जाता है। इसमे हानिकी कोई वात नहीं, यह तो एक प्रकारसे आनन्दका विषय है और इसलिये वे भय, शोक तथा सक्लेशादिसे रहित होकर सावधानीके साथ देहका त्याग करते हैं। इस सावधानीके साथ देहके त्यागको ही 'समाधिमरण' कहते है। मरणका 'समाधि' विशेषण इस मरणको उस मरणसे भिन्न कर देता है जो साधारण तौरपर आयुका अन्त आनेपर प्राय. संसारी जीवोके साथ घटित होता है अथवा आयुका स्वत. अन्त न आनेपर भी क्रोधादिकके

---

१. आउक्खएण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं। ('समयसार')।
आउक्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि। ('कार्तिके०')।

आवेशमें या मोहसे पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी, Suicide) के रूपमे उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमे आत्माकी कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नही रहती। समाधि-पूर्वक मरणमे आत्माकी प्राय पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायोके आवेशमे कुछ नही किया जाता, प्रत्युत इसके उन्हे जीता जाता है तथा चित्तकी शुद्धिको स्थिर किया जाता है और इसीसे कशाय तथा कायके संलेखन—कृषीकरण रूपमे इस समाधिमरणका दूसरा नाम 'सल्लेखना-मरण' भी है, जिसे आमतौरपर 'सल्लेखना' कहते है। यह सल्लेखना चूंकि 'मारणान्तिकी' होती है[1]—मरणका अवश्यम्भावी होना जव प्राय निश्चित हो जाता है, तव की जाती है—इसलिये इसे 'अन्तक्रिया' भी कहते हैं। जो कि जीवनके अन्तमे की जानेवाली आत्म-विकार-साधना-क्रियाके रूपमे एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिये अपघात, खुदकुशी (Suicide) जैसे—अपराधोकी सीमासे वाहरकी वस्तु है। इस क्रिया द्वारा देहका जो त्याग होता है वह आत्म-विकासमे सहायक अर्हदादि-पंचपरमेष्ठी अथवा परमात्माका ध्यान करते हुए वडे यत्न एवं सावधानताके साथ होता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके **पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन'** इस वाक्यसे जाना जाता है—यो ही विप खाकर, कूपादिकमे डूवकर, पर्वतादिकसे गिरकर, अग्निमे जलकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादिसे आघात पहुँचाकर सम्पन्न नही किया जाता।

इस सल्लेखना अथवा समाधिमरणकी योग्यता-पात्रता कव प्राप्त होती है और उसे किस उद्देश्यको लेकर सम्पन्न किया जाता है इन दोनोका वडा ही सुन्दर निर्देश स्वामी समन्तभद्रने सल्लेखनाके अपने निम्न लक्षणमे अन्तर्निहित किया है :—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ १२२॥

—समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डकश्रावकाचार)

इसमे वतलाया है कि—'जव उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (वुढापा) तथा रोग प्रतीकार (उपाय-उपचार) रहित असाध्य दशाको प्राप्त हो जाय अथवा (चकारसे) ऐसा ही कोई दूसरा प्राणघातक अनिवार्य[2] कारण

---

१. मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता।—त० सू० ७-२२

२. भगवती-आराधनामे भी ऐसे दूसरे सदृश कारणकी कल्पना एव सूचना की गई है, जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—
'अण्णं पि चापि एदारिसम्मि अगाढकारणे जादे।'

उपस्थित हो जाय तब धर्मकी रक्षा—पालनाके लिये जो देहका विधि-पूर्वक त्याग है उसको सल्लेखना—समाधिमरण कहते है।'

इस लक्षण-निर्देशमे **'निःप्रतीकारे'** और **'धर्माय'** ये दो पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। उपसर्गादिकका **'निःप्रतीकार'** विशेषण इस बातको सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन-कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिकको दूर करनेका जब कोई उपाय नही बन सकता तो उसके निमित्तको पाकर एक मनुष्य सल्लेखनाका अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा—उपायके सभव और सशक्य होनेपर—वह उसका अधिकारी तथा पात्र नही होता।

दूसरा **'धर्माय'** पद दो दृष्टियोको लिये हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्मकी रक्षा—पालनाकी और दूसरी आत्मीय धर्मको यथाशक्य साधना—आराधना की। धर्मकी रक्षादिके अर्थ शरीरके त्यागकी बात सामान्य रूपसे कुछ अटपटी-सी जान पडती है, क्योकि आम तौरपर **'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्'** इस वाक्यके अनुसार शरीर धर्मका साधन माना जाता है और यह बात एक प्रकारसे ठीक ही है, परन्तु शरीर धर्मका सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नही है, वह साधक होनेके स्थानपर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीरको कायम (स्थिर रखने) अथवा उसके अस्तित्वसे धर्मके पालनमे बाधाका पडना अनिवार्य हो जाता है तब धर्मकी रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानतासे उल्लेख है। विदेशियो तथा विधर्मियोंके आक्रमणादि द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्मको छोडनेके लिये मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अत धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिकका समय रहते विचारकर धर्म-भ्रष्टतासे पहले ही बडी खुशी एव सावधानीसे उस धर्मको साथ लिये हुए देहका त्याग करते हैं जो देहसे अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टिके अनुसार जब मानव रोगादिकी असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकारसे मरणका होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रताके साथ धर्मकी विशेष साधना—आराधनाके लिये प्रयत्नशील होता है, किये हुए पापोकी आलोचना करता हुआ महाव्रतो तकको धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मीजनोकी योजना करता है जो उसे सदा धर्ममे सावधान रक्खे, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा

कष्टके अवसरोपर कायर न होने देवे। वह मृत्युकी प्रतीक्षामे बैठता है, उसे बुलानेकी शीघ्रता नही करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ जाय। ये दोनो बाते उसके लिये दोषरूप होती हैं, जैसा कि इस सल्लेखना व्रतके अतिचारोकी कारिका (१२९) के 'जीवितमरणाशसे' वाक्यसे जाना जाता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने उक्त धर्म-शास्त्रमे 'अन्तक्रियाधिकरणं तपः-फलं सर्वदर्शिन स्तुवते' इत्यादि कारिका (१२३) के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि 'तपका फल अन्तक्रियाके—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरणके—आधारपर अवलम्बित है। अर्थात् अन्तक्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधिपूर्वक मरण बनता है—तो किये हुए तपका फल भी सुघटित होता है, अन्यथा उसका फल नही भी मिलता। अन्तक्रियासे पूर्वका वह तप कौन-सा है जिसके फलकी बातको यहाँ उठाया गया है? वह तप श्रावकोका अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है और मुनियोका महाव्रत-गुप्ति-समित्यादिरूप चारित्र है। सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमे जो कुछ उद्योग किया जाता और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है[1]। इस तपका परलोक-सम्बन्धी यथेष्ट फल प्राय तभी प्राप्त होता है जब समाधिपूर्वक मरण होता है, क्योकि मरणके समय यदि धर्मानुष्ठानरूप परिणाम न होकर धर्मकी विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गतिमे जाना पडता है और वहाँ पूर्वोपार्जित शुभकर्मोके फलको भोगनेका कोई अवसर ही नही मिलता—निमित्तके अभावमे वे शुभकर्म बिना रस दिये ही खिर जाते हैं। एक बार दुर्गतिमे पडकर बहुधा दुर्गतिकी परम्परा बन जाती है और पुनः धर्मको प्राप्त करना बडा ही कठिन हो जाता है। इसीसे श्री शिवार्यजी अपनी भगवती आराधनामे लिखते है कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्ममे चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी यदि मरणके समय उस धर्मकी विराधना कर बैठता है, तो वह अनन्तकालपर्यन्त ससार भ्रमण करनेवाला हो जाता है'—

सुचिरमवि निरदिचार विहिरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते ।
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५ ॥

---

१. जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणो य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरतस्स ॥ १० ॥

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि अन्त समयमे धर्म-परिणामोको सावधानी न रखनेसे यदि मरण बिगड जाता है तो प्रायः सारे ही किये करायेपर पानी फिर जाता है। इसीसे अन्त-समयमे परिणामोंको सँभालनेके लिये बहुत बडी सावधानी रखनेकी जरूरत है और इसीसे उक्त कारिकाके उत्तरार्द्ध **'तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्'** मे इस बातपर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरणका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

इन्ही सब बातोको लेकर जैन-समाजमे समाधिपूर्वक मरणको विशेष महत्त्व प्राप्त है। उसकी नित्यकी पूजा-प्रार्थनाओ आदिमे **'दुक्खखओ कम्म-खओ समाहिमरण च बोहिलाहो वि'** जैसे वाक्यो-द्वारा समाधि-मरणकी बराबर भावना की जाती है, और भगवती-आराधना जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषयकी महती चर्चाओ एव मरण-सम्बन्धी सावधानताकी प्रक्रियाओसे भरे पडे हैं। लोकमे भी 'अन्तसमा सो समा', 'अन्तमता सोमता' और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्योके द्वारा इसी अन्त-क्रियाके महत्वको ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनोके लिये विहित एव निर्दिष्ट है।

ऐसी स्थितिमे जो मरणासन्न है, जिसने सल्लेखनात्मक सन्यास लिया है अथवा समाधिपूर्वक मरणका संकल्प किया है उसके परिणामोको ऊँचा उठानेकी—गिरने न देनेकी बड़ी जरूरत होती है, क्योकि अनादि अविद्या तथा मोह-ममतादिके संस्कारवश और रोगादि-जन्य वेदनाके असह्य होनेपर बहुधा परिणामोमे गिरावट आजाती है, परिणामोकी आर्त्त-रौद्रादिरूप परिणति होकर सक्लेशता बढ जाती है और उससे मरण बिगड जाता है। अत. सुन्दर सुमधुर तात्त्विक वचनोके द्वारा उसके आत्मामे भेद-विज्ञानको जगानेकी जरूरत है, जिससे वह अपनेको देहसे भिन्न अनुभव करता हुआ देहके छूटनेको अपना मरण न समझे, रोगादिकको देहाश्रित समझे और देहके साथ जिनका सम्बन्ध है उन सब स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिको 'पर' एव अवश्य ही वियोगको प्राप्त होनेवाले तथा साथ न जानेवाले समझकर उनसे मोह ममताका त्यागकर चित्तमे शान्ति धारण करे, उसके सामने दूसरोके ऐसे भारी दुःख-कष्टोके और उनके अडोल रहकर समताभाव धारण करने तथा फलत. सद्गति प्राप्त करनेके उदाहरण भी रखने चाहिये, जिससे वह अपने दुःख-कष्टोको अपेक्षाकृत बहुत कम समझे और व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल न होकर हृदयमे बल तथा उत्साहकी उदीरणा करनेमे समर्थ होवे। साथ ही इस

देहके छूटनेसे मेरी कोई हानि नही, यह तो चोला वदलना मात्र है, पुराने जर्जर अथवा रोगादिसे पीडित शरीरके स्थानपर धर्मके प्रतापसे नया सुन्दर शरीर प्राप्त होगा, जिससे विशेष धर्म-साधना भी वन सकेगी, ऐसी भावना भाता हुआ मरणको उत्सवके रूपमे परिणत कर देवे) इसी उद्देश्यको लेकर 'मृत्यु-महोत्सव' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थोकी रचना हुई है। प्रकृत ग्रन्थ 'समाधिमरणोत्साहदीपक' भी इसी उद्देश्यको लेकर निर्मित हुआ है, जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट है।

ग्रन्थकी उपलब्धि

यह ग्रन्थ, जो कि विक्रमकी १५वी शताब्दीके विद्वान् आचार्य सकल-कीर्तिकी कृति है, अभी तक अनुपलब्ध था, ग्रन्थ-सूचियोमे भी इसका नाम नही मिल रहा था। आजसे कोई दस वर्ष पहले अजमेर वडा धडा पञ्चायती जैनमन्दिरके भट्टारकीय शास्त्र-भण्डारको देखते हुए मुझे एक जीर्ण-शीर्ण प्राचीन गुटकेपरसे इसकी उपलब्धि हुई थी, जिसकी सूचना मैंने अनेकान्त वर्ष ४ की सयुक्त किरण ३-४ मे 'पुराने साहित्यकी खोज' शीर्षकके नीचे नं० ८ पर प्रकाशित की थी और यह प्रकट किया था कि इस गन्थमे ग्रन्थकारने समाधि-सिद्धिके लिए अच्छी सामग्री जुटाई है, समाधिपूर्वक मरणकी विधि व्यवस्था बतलाई है और ऐसी सत्शिक्षाओ की साथमे योजना की है जिससे मरते समय हृदयमे निजात्माका भान होकर मोहका विघटन हो जाय, शान्ति तथा समताकी प्रतिष्ठा हो सके, रोगादि-जन्य वेदनाएँ चित्तको उद्वेजित न कर सके, धैर्य गिरने न पावे और उत्साह इतना वढ जाय कि मृत्यु भयकी कोई वस्तु न रहकर एक महोत्सवका रूप धारण कर लेवे। साथ ही अनुवादादिके साथ इसके शीघ्र प्रकाशनकी आवश्यकता भी व्यक्त की थी। तदनुसार आज उसे प्रकाशित देखकर मेरी प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है। आशा है, बहुतोके समाधिमरणमे यह ग्रन्थ सहायक होकर अपने उद्देश्यको पूरा करनेमे सफल होगा।

जो सज्जन किसीके भी समाधिमरणमे सहायक होकर—अपनी आवश्यक सेवाएँ प्रदानकर—उसे विधिपूर्वक सम्पन्न कराते हैं उनके समान उसका दूसरा कोई उपकारी या मित्र नहीं है। और जो इष्ट मित्रादिक उस मरणासन्नकी हितकी, परलोक सुधारनेकी—कोई चिन्ता तथा विधि-व्यवस्था न करके अपने स्वार्थमे वाधा पडती देखकर रोते-पीटते-चिल्लाते हैं तथा ऐसे वचन मुँहसे निकालते हैं जिससे म्रियमाण

आतुरका चित्त विचलित हो जाय, मोह तथा वियोग-जन्य दुःखसे भर जाय और वह आत्मा तथा अपने भविष्यकी बातको भुलाकर सक्लेश परिणामोके साथ मरणको प्राप्त होवे, तो वे इष्ट-मित्रादिक वस्तुतः उसके सगे-सम्बन्धी नही, किन्तु अपने कर्तव्यसे गिरे हुए अपकारी एवं शत्रु होते हैं। ऐसे ही लोगोको स्वार्थके सगे अथवा मतलबके साथी कहा जाता है। अतः मरणासन्नके सच्चे सगे-सम्बन्धियोको चाहिये कि वे अपने कर्त्तव्यका पूर्ण-तत्परताके साथ पालन करते हुए उसके भविष्य एव परलोक सुधारनेका पूरा प्रयत्न करे। अपने रोने-रडानेके लिये तो बहुत समय अवशिष्ट रहता है, मरणासन्नके सामने रो-रडाकर तथा विलाप करके उसकी उस अमूल्य मरण-घडीको नही बिगाडना चाहिये, जिसे समता-भाव तथा शुभ परिणामोके अस्तित्वमे कल्पवृक्षके समान मनकी मुराद पूरी करनेवाली कहा गया है और इसलिये जिसे उत्सव, पर्व तथा त्यौहारके रूपमे मनानेकी जरूरत है।

एटा, भाद्रपद कृष्ण ८ स० २०२१
३० अगस्त, १९६४ — जुगलकिशोर मुख्तार



हरिश चन्द्र ठोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड़, जयपुर-4

प्रस्तावना

जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

पृष्ठभूमि :

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि-प्रवाह संबंध है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवकी मुक्ति नही होती। इस प्रवाहमे जीवोंको नाना क्लेशो और दु.खोको भोगना पडता है। परन्तु राग-द्वेप और इन्द्रिय-विपयोमे आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्यको जानते हुए भी उससे मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नही देते[२]। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते हैं तथा हर्प व्यक्त करते हैं और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्युपर आसू बहाते एव शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है[३]। अतएव जैन मनीपियोने उनकी मृत्युको 'मृत्यु-महोत्सव' के रूपमे वर्णन किया है[४]। इस वैलक्षण्यको समझना कुछ कठिन नही है। यथार्थमे साधारण लोग ससार (विपय-कपायके पोपक चेतना-चेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अत उनके छोडनेमे उन्हें दु.खका अनुभव होता है और उनके मिलनेमे हर्प होता है। परन्तु शरीर और आत्माके

---

१ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'

—गीता २-२७।

२-३ 'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥'

—मृत्यु-महोत्सव श्लोक १७।

४. 'ज्ञानिन्! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देहाद्देहान्तरस्थिति॥

—मृत्युमहोत्सव श्लोक १०।

भेदको समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषायकी पोषक बाह्य वस्तुओको ही, अपितु अपने शरीरको भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीर-को छोडनेमे उन्हे दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनियाको नही मानते, किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सद्दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, सयम आदि आत्मीय गुणोको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरके त्यागपर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नही है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणोमे जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोडने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमे उसी तरह उत्सुक एव प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रको छोडने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमे अधिक प्रसन्न होता है[1]।'

इसी तथ्यको दृष्टिमे रखकर सवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोमे सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नही चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, सक्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमे झुलसते हुए असावधान अवस्थामे हो, किन्तु दृढ शान्त और उज्ज्वल परिणामो-के साथ विवेकपूर्ण स्थितिमे वीरोकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमे उसीके सम्बन्धमे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

सल्लेखना और उसका महत्व :

'सल्लेखना' शब्द जैन-धर्मका पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना'—सम्यक् प्रकारसे काय और कषाय दोनोको कृष करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समयमे की जानेवाली जिस क्रिया-विशेषमे बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोका, उनके कारणोको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृषीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना

१. जीर्णं देहादिक सर्व नूतन जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सता सातोत्थितिर्यथा ॥

—मृत्युमहोत्सव, श्लोक १५।

गीतामे भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—

वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

—गीता २-२२।

है[1]। उसीको 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतो, तपो और सयमकी संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृतिमे 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामोके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियो और मन, वचन, काय इन तीन बलोके संयोगका नाम जन्म है और उन्हीके क्रमश अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है। एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव-मरण है[2]। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामोपर विशेष प्रभाव नही पडता। पर तद्भव-मरणका कषायो एव विषय-वासनाओकी न्यूनाधिकताके अनुसार आत्म-परिणामोपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिये ही पर्यायके अन्तमे 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखनासे अनन्त संसारकी कारणभूत कषायोका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता है अथवा बिलकुल सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखनाधारणपर बल देते हुए कहते है[3] कि जो भद्र एक पर्यायमे समाधिमरणपूर्वक मरण करता है वह संसारमे सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नही करता—

१. (क) 'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणा तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।'

—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) 'मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता'

—आ० गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसूत्र ७-२२।

२. 'स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणा बलाना च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिण.। 'मरणं द्विविधम्, नित्यमरण तद्भवमरण चेति। तत्र नित्यमरण समये समये स्वायुरादीना निवृत्ति। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभव-विगमनम्।'

—अकलङ्कदेव, तत्त्वार्थवा० ७-२२।

३ 'एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ-भवे पमत्तूण॥'

—भगवती आराधना।

उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।' आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक लिखते हैं' कि 'सल्लेखना-धारक (क्षपकका) भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोको भोगकर अन्तमे उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।'

तेरहवी शताब्दीके प्रौढ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बडे ही प्राजल शब्दोमे स्पष्ट करते हुए कहा है[2] कि 'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियो द्वारा उपचारके योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढता ही जाय तो ऐसी स्थितिमे उस शरीरको दुष्टके समान छोड देना श्रेयस्कर है।' वे असावधानी एव आत्म-घातके दोषसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी सकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है। उस हालतमे व्रतीको आत्म-धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनामे लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है[3]।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्ने भी प्रतिपादन किया है कि[4] "जिस शरीरका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नही रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोको यथाख्यातचारित्र (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है"।

---

१. 'सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तम ठाण॥'
—भगवती आराधना।

२ 'काय स्वस्थोऽनुवर्त्य स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगित।
उपकारं विपर्यस्यस्त्याज्य सद्भि. खलो यथा॥'
आशाधर, सागारधर्मामृत ८–६।

३. 'देहादिवैकृतै सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम्॥
—सागारधर्मामृत ८-१०।

४ प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणा निगदति चरमचरित्रोदयं समयम्॥
—आदर्श सल्लेखना पृ. १९।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमे समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है। वे लिखते हैं[1] :

'जो फल बडे-बडे व्रती पुरुषोको कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमे सावधानी पूर्वक किये गये समाधि मरणसे जीवोको सहजमे प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमे समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है।'

'बहुत कालतक किये गये उग्र तपोका, पाले हुए व्रतोका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र-ज्ञानका एकमात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।'

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमे आचरित तपोका फल वस्तुत अन्त समयमे गृहीत सल्लेखना ही है। अत. वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करने पर जोर देते हैं[2]।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं[3] कि मरण किसीको इष्ट नही है। जैसे अनेक प्रकारके

---

१. यत्फल प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात्।
तत्फलं सुखसाध्य स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना ॥
—मृत्युमहोत्सव श्लोक २१,२३।

२. अन्त.क्रियाधिकरण तप फल सकलदर्शिन. स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार ५-२।

३. 'मरणस्यानिष्टत्वात्। यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्ट.। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दु.परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एव गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दु.परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते।'
—सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

सोना, चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रो आदिका व्यवसाय करनेवाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नही है, जिसमे उक्त बहुमुल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ आजाना या राज्यमें विप्लवका हो जाना आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नही देता, तो घरमें रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोका अर्जन करने वाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नोके आधारभूत शरीरकी, पोषक आहार-औषधादि द्वारा रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नही है। पर दैववश शरीरमे उसके विनाशकारण (असाध्य रोगादि) उपस्थित हो जायँ, तो वह उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीरकी रक्षा अब सम्भव नही है, तो उन बहुमूल्य व्रत शीलादि आत्म-गुणोकी वह सल्लेखनाद्वारा रक्षा करता है और शरीरको नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखोसे सल्लेखनाकी उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहजमे जानी जा सकती है। लगता है कि इसी कारण जैन-संस्कृतिमे सल्लेखनापर बडा बल दिया गया है। जैन लेखकोंने अकेले इसी विषयपर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओमे अनेको स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्यकी 'भगवती आराधना' इस विषयका अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साहदीपक', 'समाधि-मरणपाठ' आदि नामोसे संस्कृत तथा हिन्दीमे भी इसी विषयपर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि :

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र-स्वामीने सल्लेखना-धारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार ५-१।

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढापा और रोग—इन अवस्थाओमे आत्म-धर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।'

स्मरण रहे कि जैन व्रती-श्रावक या साधुकी दृष्टिमे शरीरका उतना महत्त्व नही जितना आत्माका है, क्योकि उसने भौतिक दृष्टिको गौण और आध्यात्मिक दृष्टिको मुख्य—उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीरकी उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओंमे, जो साधारण व्यक्तिको विचलित कर देनेवाली होती है, आत्म-धर्मसे च्युत न होता हुआ उसकी रक्षाके लिए साम्यभाव-पूर्वक शरीरका उत्सर्ग कर देता है। वास्तवमे इस प्रकारका विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षोंके चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीसे सल्लेखना एक असामान्य असिधाराव्रत है जिसे उच्च मन स्थितिके व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्माके मध्य-का अन्तर (शरीर जड, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेनेपर सल्लेखना-धारण कठिन नही रहता। उस अन्तरका ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि 'शरीरका नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्मका नाश नही करना चाहिए, क्योकि शरीरका नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुन मिल सकता है। परन्तु आत्म-धर्मका नाश होनेपर उसका पुनः मिलना दुर्लभ[1] है।' अत जो शरीरमोही नही होते वे आत्मा और अनात्माके अन्तरको जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मासे परमात्माकी ओर बढते हैं। जैन सल्लेखनामे यही तत्त्व निहित है। इसीसे प्रत्येक जैन देवोपासनाके अन्तमे प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है[2] -

'हे जिनेन्द्र! आप जगद् बन्धु है। मैं आपके चरणोकी शरणमे आया हूँ। मेरे सब दु खो अभाव हो, दु:खोके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोका (नाश) हो क्षय और कर्मनाशके कारण समाधिमरणकी प्राप्ति हो तथा समाधिकरणके कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।'

जैन सस्कृतिमे सल्लेखनाका यही आध्यात्मिक उद्देश्य एव प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पदकी उसमे कामना नही की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधुने जो अब तक व्रत-तपादि पालनका घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे हैं, आत्म-शक्ति बढाई है और असा-

---

१. 'नावश्य नाशिने हिस्यो धर्मो देहाय कामद ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्त-दुर्लभः ॥'
—सागारधर्मामृत, ८–७।

२. दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।
मम होउ जगदबंधव ! तव जिणवर चरणसरणेण ॥
—भारतीय० पूजा०, पृ० ८७।

धारण आत्म-ज्ञानको जागृत किया है उसपर सुन्दर कलश रखनेके लिए वह अन्तिम समयमे भी प्रमाद, नही करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखनामे प्रवृत्त होता है —

सल्लेखनावस्थामे उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है ? इस सम्बन्धमे भी जैन लेखकोने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्रने सल्लेखनाकी निम्न प्रकार विधि बतलाई है[1] —

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओमे राग, अनिष्ट वस्तुओमे द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनोमे ममत्व और धनादिमे स्वामित्वका त्याग करके मनको शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंसे जीवनमे हुए अपराधोको क्षमा कराये और स्वय भी उन्हे प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वय किये, दूसरोसे कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापोकी निश्छल भावसे आलोचना (उनपर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतोका अपनेमे आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्माको निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म विकारोंका भी परित्याग करे तथा आत्मबल एव उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनोद्वारा मनको प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषायको शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीरको कृष करनेके लिए सल्लेखनामें प्रथमत अन्नादि आहारका दूध, छाछ आदि पेयपदार्थोंका त्याग करे। इसके अनन्तर काजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।

---

१. स्नेहं वैर सग परिग्रह चापहाय शुद्धमना ।
स्वजन परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥
आलोच्य सर्वमेन. कृत-कारितमनुमत च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि नि शेषम् ॥
शोक भयमवासद क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मन. प्रसाद्य श्रुतैरमृतै ॥
आहार परिहाप्य क्रमश स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्ध च हापयित्वा खरपान पूरयेत्क्रमश ॥
खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वापवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥'

—रत्नकरण्डश्रावकाचार ५, ३-७।

अन्तमे उन्हे भी छोड़कर शक्तिपूर्व उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण विवेकके साथ सावधानीसे शरीरको छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधिसे सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्माका साधन करता है और वर्तमान पर्यायके विनाशसे चिन्तित नहीं होता, किन्तु भावी पर्यायको अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनानेका पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पांच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रतमे दूषण लगनेकी सम्भावना रहती है। वे पांच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं[1] —

सल्लेखना ले लेनेके बाद जीवित रहनेकी आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकनेके कारण शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायमे सुखोंकी चाह करना—ये पांच सल्लेखनाव्रतके दोष हैं, जिन्हें 'अतिचार' कहा गया है।

सल्लेखनाका फल

सल्लेखना-धारक धर्मका पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाका फल बतलाते हुए लिखा है[2] —

'उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृतका पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होकर या तो वह निःश्रेयसको प्राप्त करता है और या अभ्युदयको पाता है जहां उसे अपरिमित सुखोंकी प्राप्ति होती है।'

विद्वद्वर पण्डित आशाधरजी भी कहते हैं[3] कि 'जिस महापुरुषने संसार-

---

१　'जीवित मरणाशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार ५,८।

२.　निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥
— रत्नकरण्डश्रावकाचार ५-९।

३　सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भव-विध्वंसि साधितम् ॥
प्राग्जन्तुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥

परम्पराके नाशक समाधिमरणको धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधिको परभवमे जानेके लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जानेवाला व्यक्ति पासमे पर्याप्त पाथेय होनेपर निराकुल रहता है। इस जीवने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नही किया, जो सौभाग्यसे या पुण्योदयसे अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेवने इस समाधि-सहित पुण्य मरणकी बडी प्रशंसा की है, क्योकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चयसे ससाररूपी पिंजरेको तोड देता है—उसे फिर ससारके बन्धनमे नही रहना पडता है।'

सल्लेखनामे सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य :

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमे बडे आदर, प्रेम और श्रद्धाके साथ सलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधनामे गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्यमे, जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथसे विचलित न होने देनेके लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखनामें सम्पूर्ण शक्ति एव आदरके साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं और समाधिमरणमे उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और ससारकी असारता एव क्षणभगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमे मोहित न हो, जिन्हे वह हेय समझकर छोड चुका या छोडनेका सकल्प कर चुका है। उनकी पुन चाह न करे। आचार्य शिवार्यने भगवती-आराधना (गा० ६५०-६७६) मे समधिमरण-करानेवाले इन निर्यापक मुनियोका बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होने लिखा है --

'वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता योग्यायोग्य-विचारक न्यायमार्ग मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्वविवेकी विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। उनकी सख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।'

४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करें। ४ मुनि क्षपकको उठाने-बैठाने आदिरूपमे शरीरकी टहल करें। ४ मुनि धर्म-श्रवण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें। ४ मुनि देख-भाल रखें। ४ मुनि शरीरके मलमूत्रादि

परं शसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥
--सागारधर्मामृत ७-५८, ८-२७, २८।

पोषणमे तत्पर रहे। ४ मुनि वसतिकाके द्वारपर रहे, जिससे अनेक लोग क्षपक-के परिणामोमे क्षोभ न पैदा करें। ४ मुनि क्षपककी आराधनाको सुनकर आये लोगोको सभामे धर्मोपदेशद्वारा अनुग्रह करें। ४ मुनि रात्रिमे जागे। ४ मुनि देशकी ऊँच-नीच स्थितिके ज्ञानमे तत्पर रहे। ४ मुनि बाहरसे आये गयोंसे बातचीत करें और ४ मुनि क्षपकके समाधिमरणमें विघ्न करनेकी सम्भावना-से आये लोगोसे वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म प्रभावना) करें। इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपककी समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोमे कालकी विषमता होनेसे जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणोके धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणोवाले निर्यापकोसे भी समाधि करायें अनिषेध है। पर एक निर्यापक नही होना चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपककी २४ घण्टे सेवा करनेपर थक जायगा और क्षपककी समाधि अच्छी तरह नही करा सकेगा'[1]।'

इस कथनसे दो बातें प्रकाशमे आती हैं। एक तो यह कि समाधिमरण करानेके लिये दो-से कम निर्यापक नहीं होना चाहिए। सम्भव है कि क्षपकको समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशामें यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नही मिल सकता। अतः कम से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि प्राचीन कालमे मुनियोकी इतनी बहुलता थी कि एक एक मुनिकी समाधिमे ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपककी समाधिको वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ध्यान रहे कि यह साधुओकी समाधि-का मुख्यत वर्णन है। श्रावकोकी समाधिका वर्णन यहाँ गौण है।

ये निर्यापक क्षपकको जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखनामे सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधरजीने बडा सुन्दर वर्णन किया है[2]। वह कुछ यहाँ दिया जाता है :—

---

१ पिय-धम्मा दढ-धम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणज्जुदा सुद-रहस्सा।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं (४८) तु णिज्जवया॥
णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालससयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते॥
—शिवार्य, भगवती आराधना।

२. सागारधर्मामृत ८-४८ से ८-१०७।

हे क्षपक । लोकमे ऐसा कोई पुद्गल नही, जिसका तुमने एकसे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नही कर सका । परवस्तु क्या कभी आत्माका हित कर सकती है ? आत्माका हित तो उसीके ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं । अतः बाह्य वस्तुओसे मोहको त्यागो, विवेक तथा सयमका आश्रय लो और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है । मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शनरहित है । मैं आनन्दघन हूँ और पुद्गल ऐसा नही है ।'

'हे क्षपकराज । जिस सल्लेखनाको तुमने अबतक धारण नही किया था उसे धारण करनेका सुअवसर तुम्हे आज प्राप्त हुआ है । उस आत्महितकारी सल्लेखनामें कोई दोष न आने दो । तुम परीषहो—क्षुधादिके कष्टोसे मत घबडाओ वे तुम्हारे आत्माका कुछ बिगाड नही सकते । उन्हे तुम सहनशीलता एव धीरतासे सहन करो और उनके द्वारा कर्मोकी असख्यगुणी निर्जरा करो ।'

'हे आराधक । अत्यन्त दु खदायी मिथ्यात्वका वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्वका आराधन करो, पचपरमेष्ठीका स्मरण करो, उनके गुणोमे सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोगमे लीन रहो । अपने महाव्रतोकी रक्षा करो, कषायोको जीतो, इन्द्रियोको वशमें करो, सदैव आत्मामे ही आत्माका ध्यान करो, मिथ्यात्वके समान दु खदायी और सम्यक्त्वके समान सुखदायी तीन लोकमें अन्य कोई वस्तु नहीं है । देखो, धनदत्त राजाका सघश्री मत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्वकी विराधना की और मिथ्यात्वका सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गई और ससार-चक्रमे उसे घूमना पडा । राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बादको उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभावसे उसने अपनी बधी हुई नरककी स्थितिको कम करके तीर्थङ्कर-प्रकृतिका बन्ध किया और भविष्यत्कालमे वह तीर्थङ्कर होगा ।'

'इस तरह हे क्षपक । जिन्होने परीषहो एवं उपसर्गोको जीत करके महाव्रतोको पालन किया, उन्होने अभ्युदय और नि.श्रेयस प्राप्त किया है । सुकमालमुनिको देखो, वे जब वनमे तप कर रहे थे और ध्यानमे मग्न थे, तो शृगालिनीने उन्हें कितनी निर्दयतासे खाया । परन्तु सुकमालस्वामी जरा भी ध्यानसे विचलित नही हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । शिवभूति महामुनिको देखो, उनके सिरपर आधीसे उडकर घासका ढेर आ पडा, परन्तु वे आत्म-ध्यानसे रत्तीभर नही डिगे और निश्चल भावसे शरीर त्यागकर निर्वाणको

प्राप्त हुए। पाँचो पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवोंके भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालनेके लिए गरम लोहेकी सांखलोंसे उन्हें बाध दिया और कीलियां ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गोंको सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई।'

'अतः हे आराधक! तुम्हें इन महापुरुषोको अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरतासे सब कष्टोको सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकारसे हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करो।'

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरणमें निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं। क्षपकके समाधिमरणरूप महान् यज्ञकी सफलतामे इन निर्यापक साधुवरोका प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होनेसे उनकी प्रशसा करते हुए आचार्य शिवार्यने लिखा है[१]:—

'वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बडे आदरके साथ क्षपककी सल्लेखना कराते हैं।'

सल्लेखनाके भेद :

जैन शास्त्रोमे शरीरका त्याग तीन तरहसे बताया गया है[२]। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीर स्वतः छूटता है वह च्युत कहलाता है।

२. च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्निदाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन, आदि निमित्तकारणोसे शरीर छोडा जाता है वह च्यावित कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरणकी आसन्नता ज्ञात होनेपर जो विवेकसहित संन्यासरूप परिणामोसे शरीर छोडा जाता है, वह त्यक्त है।

इन तीन तरहके शरीर-त्यागोमे त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम

---

१. ते चि य महानुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला॥
—भग आ० गा, २०००।

२. आ० नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ५६, ५७, ५८।

माना गया है, क्योंकि उक्त अवस्थामे आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नही होता।

इस उक्त शरीर-त्यागको ही समाधि-मरण, सन्यास-मरण, पण्डित-मरण वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (उक्त-शरीरत्याग) भी तीन प्रकारका प्रतिपादन किया गया है—१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्यागमे अन्न-पानको धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्तसे ऊपर तथा बारह वर्षसे नीचेका काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओसे राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीरकी टहल स्वयं भी करता है और दूसरोसे भी कराता है।

२ इगिनी[1]—जिस शरीर-त्यागमे क्षपक अपने शरीरकी सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरेसे नही कराता उसे इगिनी-मरण कहते हैं। इसमे क्षपक स्वय उठेगा, स्वय बैठेगा और स्वय लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बनका आश्रय ले लेता है।

३ प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्यागमें इस सल्लेखनाका धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरेकी, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीरको लकडीकी तरह छोड़कर आत्माकी ओर ही क्षपक लक्ष्य रखता है और आत्माके ध्यानमे ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखनाको साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्थामे पहुँच जाता है और उसका सहनन (शारीरिकबल और आत्मसामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखनाके दो भेद :

इनमे भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरहकी होती है.—१. सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और २. अविचार-भक्तप्रत्याख्यान। सविचारभक्तप्रत्यख्यानमें आराधक अपने संघको छोडकर दूसरे सघमे जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होनेकी हालतमें ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखनाका धारी 'अर्ह' आदि अधिकारोंके विचार-पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधककी आयु अधिक नही है और शीघ्र

१. आ नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ६१।

मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघमे जानेका न समय है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :—१. निरुद्ध, २ निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध।

१. निरुद्ध—दूसरे संघमें जानेकी पैरोमे सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आजायें और अपने सघमे ही रुक जाय तो उस हालतमे मुनि इस समाधिमरणको ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकारकी है— १ प्रकाश और २ अप्रकाश। लोकमे जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषो आदिके द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आ जानेपर आयुका अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिकके समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३ परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादिके भीषण उपद्रवोके आनेपर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समयमे मनमे ही अरहन्तादि पञ्चपरमेष्ठियोके प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरणकी अपेक्षा समाधिमरणकी श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्यने सत्रह प्रकारके मरणोका उल्लेख करके उनमे विशिष्ट पाँच[1] तरहके मरणोका वर्णन करते हुए तीन मरणोको प्रशंसनीय एव श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन[2] मरण ये हैं —१. पण्डितपण्डितमरण, २ पण्डित मरण और ३. बालपण्डितमरण।

---

१. पण्डिदपण्डिद-मरणं पण्डिदयं बाल-पण्डिद चेव।
बाल-मरण चउत्थं पचमय बालबाल च॥
—भ० आ० गा० २६।

२. पण्डिदपण्डिद-मरण च पण्डिद बालपण्डिद चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पसंसति॥
—भ० आ० गा० २७।

उक्त मरणोको स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है[1] कि चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अयोगकेवली भगवान्‌का निर्वाण-गमन 'पण्डितपण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्रके धारक साधु-मुनियोका मरण 'पण्डितमरण' है, देशव्रती श्रावकका मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टिका मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टिका मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्त-प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणोका कथन किया गया है वह सब पण्डितमरणका कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरणके भेद हैं।

समाधिमरणके कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकोकी प्रशंसा :

शिवार्यने इस सल्लेखनाके करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर भक्ति प्रकट करनेवालो-को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बडी प्रशसा की है। वे लिखते हैं[2]—

'वे मुनि धन्य हैं, जिन्होने सघके मध्यमे जाकर समाधिमरण ग्रहणकर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताकाको फहराया है।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्होने समस्त लाभ पाया है जिन्होने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधनाको ससारमे महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नही कर पाते, उस आराधनाको जिन्होंने पूर्णरूपसे प्राप्त किया, उनकी महिमाका वर्णन

---

१ पण्डिदपण्डिदमरणे खीणकसाया मरन्ति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण॥
पाओपगमण-मरणं भत्तपइण्णा य इगिणी चेव।
तिविहं पण्डिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स॥
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पचमए बालबालम्मि॥
—भ० आ० २८, २९, ३०।

२ ते सूरा भयवता आइच्चइऊण सघ-मज्झम्मि।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं॥
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि सपुण्णा॥
किं णाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्त।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं॥
ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।

कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्तिके साथ क्षपककी आराधना कराते हैं।'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपककी आराधनामे उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादिके दान द्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओको निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पदको प्राप्त होते हैं।'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैलको छुटानेवाले क्षपकरूपी तीर्थमे सम्पूर्ण भक्ति और आदरके साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपकके दर्शन, वन्दन और पूजनमे प्रवृत्त होते हैं।'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनोंसे सेवित होनेसे 'तीर्थ' कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती हैं तो तपोगुणकी राशि क्षपक 'तीर्थ' क्यो नही कहा जावेगा ? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शनका भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दनाका होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियोकी प्रतिमाओकी वन्दना करनेवालोको पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपककी वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुषको प्रचुर पुण्यका सचय क्यो नही होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।'

'जो तीव्र भक्तिसहित आराधककी सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुषकी भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरणकर उत्तम गतिको प्राप्त होता है।'

सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥
ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्म-मल-हरणे।
ण्हायंति खवय-तित्थे सव्वादर-भत्ति-संजुत्ता ॥
गिरि-णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥
पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ॥

—भ० आ० गा० १९९७-२००५।

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है :—

अन्तमे यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखनाको आत्म-घात न समझ लिया जाय, क्योंकि आत्म-घात तीव्र क्रोधादिके आवेशमे आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओंसे किया जाता है, जब कि इन क्रियाओंका और क्रोधादिकके आवेशका सल्लेखनामे अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सुधार सम्बन्धी सुयोजनाका एक अङ्ग है।

क्या जैनेतर दर्शनोमे यह सल्लेखना है ?

यह सल्लेखना जैन दर्शनके सिवाय अन्य दर्शनोमे उपलब्ध नही होती। हाँ, योगसूत्र आदिमे ध्यानार्थक समाधिका विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्त.क्रियासे कोई सम्बन्ध नही है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियोंके प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कारसे है। वैदिक साहित्यमें वर्णित सोलह संस्कारोमे एक 'अन्त्येष्टि-संस्कार' आता है[1], जिसे ऐहिक जीवनके अन्तिम अध्यायकी समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-संस्कार' है। तथा इस संस्कारका अन्तःक्रियाके साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिको अथवा सामान्य लोगोका किया जाता है, सिद्ध-महात्माओ, संन्यासियो या भिक्षुओंका नही, क्योंकि उनका परिवारसे कोई सम्बन्ध नही रहता और इसलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रियाकी आवश्यकता नही रहती[3]। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है[4]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्ममें अन्त्येष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओमे मृत व्यक्तिके विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओंके लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्षके लिए इच्छाका बहुत कम सकेत मिलता है। जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति पानेके लिए कोई प्रार्थना नही की जाती[5]। पर जैन-सल्लेखनामे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्तिकी भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओंकी उसमे कामना नही होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धु-कारने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दु.खित अर्थात् चौरव्याघ्रादिसे भयभीत व्यक्तिके लिए

१,२. डॉ० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसस्कार पृ० २९६।

३. डॉ० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३।

४. हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

५. हिन्दूसस्कार पृ० ३४६।

भी संन्यासका विधान करनेवाले कतिपय मतोका उल्लेख किया है[1]। उनमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर अथवा दुःखित यह सकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोषसे बुरा कर्म किया उसे मैं छोड रहा हूँ और सब जीवोको अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा।' किन्तु यह कथन सन्यासीके मरणान्त समयके विधि-विधान को नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञाका दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ सन्यासका वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैनसल्लेखनाका अर्थ है। संन्यासका अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—सन्यासनामक चतुर्थ आश्रमका स्वीकार है और सल्लेखनाका अर्थ अन्त (मरण) समयमे होनेवाली क्रिया-विशेष[2] (कषाय एवं कायका कृषीकरण करते हुए आत्माको कुमरणसे बचाना तथा आचरित सयमादि आत्म-धर्मकी रक्षा करना) है। अत सल्लेखना जैनदर्शनकी एक विशेष देन है, जिसमे पारलौकिक एव आध्यात्मिक जीवनको उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनानेका लक्ष्य निहित है। इसमे रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होनेके कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक

---

१ सन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा सन्यसेच्च गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दुःखित ॥
उत्पन्ने सकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि-गोचरे।
भयभीतस्य सन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत् ॥
यत्किचिद्बाधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया।
प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्तत्सत्यक्तवानहम् ॥
एवं सत्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम्।
पद्भ्या कराभ्या विहरन्नाह वाक्कायमानसै ॥
करिष्ये प्राणिना हिंसा प्राणिनः सन्तु निर्भया।

—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

२ वैदिक साहित्यमे यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदिके रूपमे मिलती है। जैसा कि माघके शिशुपालवधकी टीकामे उद्धृत निम्न पद्यसे जाना जाता है -

अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः।
भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरण प्रविधीयते ॥

—शिशुपालवध ४-२३ की टीकामे उद्धृत।

किन्तु जैन संस्कृतिमे इस प्रकारकी क्रियाओको मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है :—

है। निष्कर्ष यह कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षणका अन्तिम और विचारपूर्ण प्रयत्न है। ग्रन्थकार सकलकीर्तिने इस समाधिमरणोत्साहदीपकमे इसी विचारको प्रस्तुत किया है और इस दिशामे किया गया उनका प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है।[1]

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
सेवानिवृत्त रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन
प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय,
का० हि० वि० वि०

१ जुलाई १९८४



आपगा-सागर स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥
—समन्तभद्र, रत्नकरण्ड० १-२२।

१ यह प्रस्तावना प्रथम संस्करणमे २० अक्टूबर १९६३ को लिखी गयी थी और अब उसे ही यहाँ, वहाँसे दिया गया है।

विषय-सूची

—:o:—

श्रीमत्सकलकीर्तिविरचित-

समाधिमरणोत्साहदीपक

मङ्गलाचरण

समाधिमरणादीनां फलं प्राप्तान् जिनादिकान् ।
समाधिमृत्यु-सिद्धयर्थं वन्दे पञ्च-महा-गुरून् ॥ १ ॥

मैं समाधिमरणकी सिद्धिके लिए समाधिमरणादिके फलको प्राप्त, 'जिन' आदि संज्ञाके धारक श्रीपंचमहागुरुओंकी वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

विशेषार्थ—इस श्लोकके प्रथम चरणमे 'समाधिमरण' पदके साथ जो आदि पद दिया है, उससे यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंकी सूचना की गई है। समाधिमरण तथा दर्शनादि चार आराधनाओंके फलको जिन्होने प्राप्त किया है वे वस्तुत जिन आदि हैं और उन्हीको पचमहागुरु अथवा पचपरमेष्ठी कहा गया है। श्लोकके द्वितीय चरणमे 'जिन' पदके साथ जो आदि पद दिया है उसका अभिप्राय जिन अर्थात् अरहन्तके अतिरिक्त जो शेष चार (सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) परमेष्ठी और है, उनके ग्रहण करनेका है। इस 'आदि' पदसे सूचित अर्थको चतुर्थ चरणके अन्तमे दिये गये 'पचमहागुरु' पद द्वारा ग्रन्थकारने स्वय ही स्पष्ट कर दिया है।

समाधिमरण क्या वस्तु है और क्यो उसकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—मनमें उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावोको मनसे दूर करके—मनको अत्यन्त शान्त या समाधानरूप करके—वीतराग भावोके साथ सहर्ष प्राण-त्याग करनेको समाधिमरण कहते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यह समाधिमरण जीवनके जिस किसी समयमे नही, अपितु अवस्था-विशेषमे ही किया जाता है। इसके लिए बतलाया गया है कि जब ज्ञानी व्रती पुरुष यह अनुभव करे कि मेरी इन्द्रियाँ जीर्ण हो गई हैं, शरीर थक रहा है, बुढापा चरम सीमाको प्राप्त हो गया है और इस अवस्थामे मेरा धर्म-साधन बराबर नही हो रहा है, तब उस अवस्थामे आचार्योंने समाधिमरणका विधान किया है। यह समाधिमरण उत्सर्ग मार्ग है। इसके अतिरिक्त समाधिमरणके अनेक अपवाद मार्ग भी हैं।

जैसे अभी व्रतीकी युवावस्था ही है, पर किसी रोगने शरीरको जर्जरित कर दिया और वैद्योने भी जवाब दे दिया कि अब इसका नीरोग होना असभव है, तब युवावस्थामे भी समाधिमरणके करनेका विधान किया गया है। इसी प्रकार किसी महान् उपसर्गके, दुर्भिक्षके, विप्लवके, या इसी प्रकारके अन्य किसी उत्पात आदिके आजानेपर भी जब ज्ञानी-व्रती यह अनुभव करे कि इस अवस्थामे मेरा धर्म-साधन अशक्य है, तब इन्द्रियादिके सशक्त होते हुए भी, वह अपने धर्मकी रक्षाके लिए समाधिपूर्वक प्राणोका त्याग करे, ऐसा शास्त्रोमे कहा गया है। समाधिमरणका उद्देश्य आत्म-धर्मकी रक्षा करना है। (जीवन-पर्यन्त जिस आत्म-धर्मकी आराधना की उसे अपने प्राणोसे भी बढकर समझा, अब जब उसीपर आपत्ति आ रही है और उसका प्रतीकार अशक्य है, तब यही आत्म-धर्मकी रक्षा है कि सहर्ष अपने शरीरका परित्याग कर दिया जाय)॥ १ ॥

ग्रन्थ-निर्माणका उद्देश्य तथा ग्रन्थ-प्रतिज्ञा

अथ स्वान्योपकाराय वक्ष्ये सन्यास-सिद्धये।
समाधिमरणोत्साहदीपकं ग्रन्थमुत्तमम् ॥ २ ॥

मै स्व और परके उपकारके लिए तथा सन्यासकी सिद्धिके लिए 'समाधिमरणोत्साहदीपक' इस नामवाले उत्तम ग्रन्थको कहूँगा ॥ २ ॥

विशेषार्थ—सन्यास, सल्लेखना, सन्मृत्यु आदि नाम समाधिमरणके ही पर्यायवाची है। आहार-विहारादिको छोडकर एक स्थानपर अवस्थित होनेको सन्यास कहते है। शरीर और कषायोंके कृश करनेको सल्लेखना कहते है। सक्लेश रहित मृत्युको सन्मृत्यु या समाधिमरण कहते हैं। वस्तुत. ये सभी नाम एक ही कार्यकी पूर्वोत्तर-काल-भावी क्रियाओको प्रकट करने वाले हैं ॥ २ ॥

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते स्वर्ग-मोक्षादिसिद्धये (सिद्धिदे)।
समाधिमरण यत्नात् साधयन्तु शिवार्थिन ॥ ३ ॥

स्वर्ग और मोक्ष आदिकी सिद्धिके लिये मृत्युरूपी कल्पवृक्षके प्राप्त होनेपर आत्मकल्याणके इच्छुक जनोको यत्नपूर्वक समाधिमरण-की साधना करना चाहिये ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार कल्पवृक्षसे किसी भी इष्ट वस्तुकी याचना की जाती है वह उसे प्रदान कर याचकके मनोरथको पूर्ण करता है, उसी प्रकार विधिवत् किया गया समाधिमरण भी सभी समीहित लौकिक एव पारलौकिक फलोको देता है। दूसरे शब्दोमे यह कहना चाहिये कि ससारके जितने भी अभ्युदय—सुख हैं उन्हे भी देता है और परमनिश्रेयसरूप मोक्ष-सुखको भी वह

देता है। श्लोकके द्वितीय चरणमे जो मोक्षपदके साथ आदिपद दिया है, वह चक्रवर्ती, तीर्थकरादि पदोकी सिद्धिका सूचक है। इन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र राजेन्द्र, कामदेव आदिके सुखोको अभ्युदय-सुख कहते हैं और परमनिराकुलतारूप शिव-सुखको नि श्रेयसमुख कहते हैं। ये दोनो ही प्रकारके सुख समाधिमरणसे प्राप्त होते हैं इसलिए उसे कल्पवृक्षकी उपमा दी गई है ॥ ३ ॥

यतः सन्मृत्युमात्रेण लभ्यन्ते हेलया बुधैः ।
सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त-सम्पदो वा शिवश्रिय. ॥ ४ ॥

यतः ज्ञानीजन केवल समाधिमरणके द्वारा लीलामात्रसे सर्वार्थसिद्धि तककी सासारिक सम्पदाओको और मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करते हैं (अत उसकी प्राप्तिके लिए निरन्तर यत्न करना चाहिये ॥ ४ ॥

विशेषार्थ— श्लोकके तृतीय चरण-द्वारा जिन सम्पदाओकी सूचना की गई है, वे इस प्रकार है—उत्तम कुल, महान् पुरुषार्थ, तेजस्विता आदिका पाना मनुष्य भवका सुख है। राजा, अधिराज, महाराज, माण्डलिक, महामाण्डलिक-अर्धचक्री, चक्री और तीर्थंकर पदका प्राप्त करना मनुष्य भवकी उत्तरोत्तर सम्पदाएँ हैं। देव चार जातिके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी। कल्पवासी देव भी दो प्रकारके होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। १६ स्वर्गोके देवोको कल्पोपपन्न कहते हैं और उनसे ऊपरके नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवोको कल्पातीत कहते हैं। इन कल्पातीत विमानोमे सर्वार्थसिद्धि सर्वोत्कृष्ट विमान हैं। इस विमानमे रहनेवाले देवोको सर्वोत्कृष्ट स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है। ग्रन्थकारने सर्वार्थसिद्धि तककी समस्त सम्पदाओकी तथा मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका एकमात्र कारण समाधिमरण बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो जीव जीवन-पर्यन्त उग्र तपश्चरणादि करता है, परन्तु देह-परित्यागके समय यदि उसका मरण समाधिपूर्वक नही हो रहा है अर्थात् सक्लेशपूर्वक प्राण-त्याग कर रहा है, तो वह तपश्चरणादिके अभीष्ट फलको नही पाता है। किन्तु जो मरणके समय सावधानी रखता है और चित्तकी समाधिके साथ प्राणोका परित्याग करता हैं, वह क्षणमात्रमे ही पूर्वोक्त सासारिक सुख सम्पदाओको और मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

मृत्यु-चिन्तामणौ पुण्यादायाते यैः प्रमादिभि ।
आत्मार्थ साधितो नाहो तेषा स्यु. जन्मकोटय. ॥ ५ ॥

अहो ! पुण्यसे मृत्युरूप चिन्तामणि-रत्नके प्राप्त होनेपर भी जो प्रमादीजन अपना प्रयोजन सिद्ध नही करते हैं, वे कोटि जन्मो तक ससारमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति अत्यन्त पुण्यके उदयसे होती है, उसी प्रकार मनुष्यके सावधान रहते हुए यदि मरणका अवसर आ जाय तो वह भी महान् पुण्यका उदय समझना चाहिए। (अन्यथा जिनके पापका उदय होता है, उनकी मृत्यु सुप्त, मूच्छित, रुग्ण आदि दशामे होती है, जिससे वे अपने परिणामोको संभाल नही रख पाते है और इसी कारण दुर्गतियोमे उनका जन्म होता है) इसका कारण यह है कि शास्त्रोमे कहा गया है कि—जल्लेस्से मरइ तल्लेस्से उप्पज्जइ" जो जीव जैसी शुभ या अशुभ लेश्यामे मरेगा, वैसी ही शुभ-अशुभ लेश्या वाली गतिमे उत्पन्न होगा। इस आगम-नियमके अनुसार सुप्त, मूर्च्छित आदि दशामे या रोगादिसे पीडित-अवस्थामे जब अशुभ लेश्या होगी तो वह मर कर नरक-तिर्यञ्चादि खोटी ही गतिमे उत्पन्न होगा। किन्तु जो व्यक्ति चित्तकी समाधिपूर्वक पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपने प्राणोका त्याग करता है, उसके यतः मरण-समय शुभ लेश्या है, अत वह तदनुसार स्वर्गादिकी उत्तम गतिको ही प्राप्त करता है। इस भावको व्यक्त करनेके लिए ही ग्रन्थकारने समाधिमरणको चिन्तामणिरत्नकी उपमा दी और उसे 'पुण्यादायात' कहा। श्लोकके तृतीय चरणमे जो 'आत्मार्थ' पद दिया है उसका अभिप्राय आत्माके अभीष्ट अर्थसे है। आत्माका अभीष्ट अर्थ निराकुलतारूप परम सुखको पाना है। अनादि कालसे लेकर आज तक जीवने संसारके क्षणिक एवं व्याकुलतामय इन्द्रिय-सुख तो अनन्त बार प्राप्त किये। परन्तु निराकुलतारूप अविनाशी स्थायी आत्मिक सुख एक बार भी प्राप्त नही किया है। जो जीव मृत्युरूप चिन्तामणिके हस्तगत होनेपर भी अपने उस अभीष्ट आत्मार्थको सिद्ध नही करते हैं वे वस्तुत. अभागे है और इसी कारण चिरकाल तक ससारमे परिभ्रमण करते रहेगे ॥ ५ ॥

येन सन्मृत्युना पुसां जीर्ण-देहादयोऽखिलाः।
जायन्ते नूतनाः शीघ्र निधिवत्समुवे न कौ ॥ ६ ॥

जिस सन्मृत्युके द्वारा पुरुषोके जीर्ण-शीर्ण शरीर और इन्द्रियादि समस्त अगोपाग शीघ्र नवीन हो जाते है, वह सन्मृत्यु निधिके समान पृथ्वीपर क्या हर्षके लिए नही है? अवश्य है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—निधि नाम निधान या भाण्डारका है। जिस प्रकार किसी दरिद्र पुरुषको किसी रत्न-भाण्डारके प्राप्त हो जानेपर उसके हर्षका पारावार नही रहता है और वह उसके द्वारा जीर्ण-शीर्ण घरके स्थानपर नवीन भवनका निर्माण कर लेता है एवं सभी मनोवाछित नवीन पदार्थोंको पा लेता है। उसी प्रकार सन्मृत्युके द्वारा भी मनुष्य जीर्ण-शीर्ण देहका परित्याग कर बल-वीर्य-

सम्पन्न उत्तम नवीन शरीरको प्राप्त करता है। अतएव ग्रन्थकारने सन्मृत्युको निधिकी उपमा दी है। और उसके द्वारा मनुष्योको यह सूचना दी है कि मृत्युका अवसर प्राप्त होनेपर विषाद नही, अपितु महान् हर्ष मानना चाहिये। यहाँ यह आशका करना व्यर्थ है कि जीर्ण-देहादिक तो अपमृत्युसे भी नवीन हो जाते हैं, फिर सन्मृत्युकी क्या विशेषता रही, क्योकि अपमृत्युसे शरीर नवीन भले ही मिले, पर वह भव्य एव दिव्य नही मिलेगा, प्रत्युत वर्तमान देहसे भी गया-बीता एवं बल-वीर्य-हीन मिलेगा। इसलिए सन्मृत्युसे मिलनेवाले दिव्य देहकी अपमृत्युसे मिलनेवाले नवीन हीन देहके साथ कभी समानता नही हो सकती ॥ ६ ॥

सत्तपोव्रतयोगाढ्यः त्रिजगत्सुखसम्पदः।
सतां दातु क्षमो येन (यो हि) स मृत्युः किं न शस्यते ॥ ७ ॥

उत्तम तप, व्रत और योगसे युक्त जो मृत्यु सज्जनोके लिए तीन जगत्‌की सुख-सम्पदा देनेको समर्थ है, वह मृत्यु क्या प्रशसनीय नही है? अवश्य ही प्रशसाके योग्य है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—हिंसादि पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। शरीरके कृश करने एवं इच्छाओंके निरोध करनेको तप कहते हैं और मनकी एकाग्रताको योग कहते हैं। ये तीनो सम्यग्दर्शनके साथ होनेपर सद्-व्रत, सत्तप और सद्-योग कहलाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य जीवनभर व्रत, तप और योगको धारण करे और अन्तिम समयमे यदि वह अपमृत्युसे मरे, तो वह किसी भी सुख-सम्पदाको नही पाता है। किन्तु जब वही व्रत, तप और योगवाला मनुष्य समाधिमरणसे प्राणोका त्याग करता है, तो उसे त्रिजगत्‌की सभी सुख-सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि सन्मृत्युके बिना जीवनभर धारण किये हुए व्रत तप और योग बेकार हैं, निरर्थक हैं। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सदा समाधिमरणके लिए प्रयत्नशील रहे ॥ ७ ॥

ननु घोरतपोयोगव्रताद्यान् स्वेष्टभूतिदान्।
मन्येऽहं सफलांस्तेषां यैः कृत मरणोत्तमम् ॥ ८ ॥

मै उन्ही पुरुषोके घोर तप, योग और व्रतादिको इष्ट फलदायक और सफल मानता हूँ जिन्होने उत्तम समाधिमरण किया है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमे बतलाये अर्थको ही स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि 'अन्त क्रियाधिकरण तप फलं सकलदर्शिनः स्तुवते' अर्थात् अन्तिम समय समाधिपूर्वक मरण होना ही जीवन भरके व्रत, तप और योगादिका फल है, अतएव उन ही पुरुषोका जीवन सफल है, जिन्होने कि समाधिपूर्वक अपने प्राणोका परित्याग किया है और ऐसे ही पुरुषोके घोर तप, व्रत और

योगादिक अभीष्ट फलको देते हैं। (जिस जीवका मरण समाधिपूर्वक न होकर सक्लेशपूर्वक दुर्ध्यानसे होता है, उसके जीवनभर किये हुए तपश्चरणादिकोपर पानी फिर जाता है और इसी कारण वे कोई भी अभीष्ट फल देनेमें समर्थ नही रहते हैं)॥ ८ ॥

यतः श्रीसुकुमालस्वाम्यादयो द्वित्रिभिर्दिनैः ।
गताः सर्वार्थसिद्धयादीन् महामरणसाधनात् ॥ ९ ॥

इस महान् समाधिमरणके साधन करनेमे श्री सुकुमालस्वामी आदि अनेक महापुरुष दो-तीन दिनकी तपस्याके द्वारा ही सर्वार्थसिद्धि आदिको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—श्री सुकुमालस्वामी गृहस्थावस्थामे इतने सुकुमार थे कि उनको माता दृष्टिदोषके परिहारार्थ उनके आसनपर सरसो क्षेपण कर देती थी, तो वे भी उनको चुभा करते थे और आसनपर स्थिर होकर नही बैठ सकते थे। किन्तु जब उन्हे ज्ञात हुआ कि मेरी आयु केवल तीन दिन की ही शेष रह गई है, तो सहसा तपोवनमे गुरुके समीप जाकर जिन दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करनेके अनन्तर जैसे ही वे ध्यानस्थ हुए वैसे ही एक श्यालनीने अपने बच्चोंके साथ आकर उनके पैरोंको खाना प्रारम्भ कर दिया। सुकुमालस्वामीने इस उपसर्गके आते ही प्रायोपगमन सन्यास ले लिया और प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक यह उपसर्ग दूर नही होगा, मेरे अन्न जलका त्याग है और मैं अपने इस आसन से भी चल विचल नही होऊँगा।" तीन दिन तक वह श्यालनी और उसके बच्चे सुकुमालस्वामीको पैरोसे लगाकर बराबर ऊपरकी ओर खाते गये। आखिर तीसरे दिन समाधिपूर्वक उन्होने प्राणोका त्याग किया और सर्वार्थसिद्धि नामक सर्वोत्कृष्ट कल्पातीत अनुत्तर विमानमे उत्पन्न हुए। यह वह स्थान है, जहाँ से च्युत होकर जीव एक ही भवको धारण कर ससारसे पार होकर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार श्रीकृष्णके सुपुत्र गजकुमार अतिसुकुमार राजकुमार थे। भ० नेमिनाथके समवसरणमे धर्मोपदेश सुननेके लिए सभी यदुवशी जा रहे थे, श्रीकृष्णके साथ गजकुमार भी थे। मार्गमे एक ब्राह्मणकी नवयौवना, सर्वगुण-सम्पन्ना सुलक्षणा सौन्दर्यमूर्ति पुत्रीको देखकर श्रीकृष्णने उसे अपने गजकुमारके लिए उसके पितासे मगनी की और उसे अन्त पुरमे भिजवा दिया। श्रीकृष्णने सपरिवार जाकर भ० नेमिनाथका उपदेश सुना। श्रीकृष्ण तो वापिस द्वारकाको लौट आये, पर गजकुमार नही लौटे। भगवानके उपदेशका उनके चित्तपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा, कि वे तत्काल दीक्षित होकर एकान्त

स्थानपर ध्यानारूढ हो गये। जिस लडकीको मगनी गजकुमारके लिए की गई थी, उसका पिता वह ब्राह्मण जगलसे समिधाओ (यज्ञमे जलाई जानेवाली लकडियो) को लेकर लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसी ही गजकुमारपर गई कि वह आग-बबूला हो गया और दुर्वचन कहते हुए बोला—"रे दुष्ट, मेरी सुकुमारी प्यारी पुत्रीको विवश करके तू साधु बन गया है, मैं देखता हूँ, तेरी साधुता को।' ऐसा कहकर उसने लडकियोमें आग लगाई। उधर तालाबके पासकी गीली मिट्टी लेकर उससे गजकुमारके तत्काल केशलु चित मुण्डित शिरपर पाल बांध कर उसके भीतर धधकते हुए अङ्गार भर दिये। गजकुमारका शिर बैगनके भुर्तेके समान खिल गया, कपाल फट गया। पर गजकुमारने तो इस उपसर्गके प्रारम्भ होते ही अन्न-जलका परित्याग कर समाधिमरण अङ्गीकार कर लिया था। वे वैसी तीव्र अग्नि-ज्वालाकी पीडा सहनकर अन्त कृत्केवली होकर सर्वोत्तम पडित-पडितमरण करके परमधाम-मोक्षको प्राप्त हुए। इस प्रकार जिस महान् फलको अन्य मुनिजन सैकडो वर्षों तक दुर्द्धर तपश्चरण करके प्राप्त करते हैं, उस महान् फलको सुकुमाल, गजकुमार आदि महामुनियोने एक-दो दिन ही कठिन साधना करके प्राणान्तक कष्ट होनेपर भी रचमात्र सक्लेश न कर सहर्ष समाधिपूर्वक प्राणोका परित्याग कर प्राप्त किया। यह सब सन्मृत्युका फल है ॥ ९ ॥

धीरत्वेन सता मृत्यु. कातरत्वेन चेद् भवेत्।
कातरत्व बलात्त्यक्त्वा धीरत्वे मरण वरम् ॥ १० ॥

यदि मृत्यु धीरतासे भी प्राप्त होती है और कातरता (दीनता) से भी प्राप्त होती है, तो कातरताको साहसके साथ छोडकर धीरतापूर्वक ही मरण करना श्रेष्ठ है, क्योकि सन्तजन धैर्यके साथ ही मृत्युका आलिगन करते है ॥ १० ॥

विशेषार्थ—मनुष्यकी आयु निश्चित है और जब वह पूर्ण हो जाती है, तब उसे मौतसे इन्द्र, अहमिन्द्र, मणि, मन्त्र, तन्त्र आदि कोई भी नही बचा सकता है। अत मौतके आनेपर जो कोई उससे भयभीत होता है, कायर बनकर रोता है और मौतसे बचनेके लिए कभी इसकी ओर कभी उसकी शरणमे जाता है, वह बच तो सकता नही, मरना तो अवश्य पडता है, किन्तु हाय हाय करके महा पापका उपार्जन और कर लेता है, जिससे कि उसे भव-भवमे पुन मरणके दारुण दु खोको भोगना पडता है। परन्तु जो शूरवीर पुरुषके सग्राममे जूझनेके समान मौतका मुकाबिला धीर-वीर होकर करते है, वे जन्म-जन्मके सचित पापोको क्षणमात्रमे भस्म करते हुए अजर अमर बन जाते हैं और सदाके लिए

मरणके दारुण दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं। इसलिए ग्रन्थकार मरणसे भयभीत होनेवाले लोगोंको सम्बोधन करते हुए कह रहे हैं कि कायर होकर मरनेकी अपेक्षा धीर-वीर बनकर मरना लाखों गुना अच्छा है ॥ १० ॥

मरणं बालबालाख्यं निन्द्यं बालाह्वय ततः।
बालपण्डितनामाद्यं त्रिविधं पण्डिताभिधम् ॥ ११ ॥
द्विरुक्तं पण्डित चैते सप्त भेदा मता मृतेः।
दुर्दृशा बालबालं कुमरणं स्यात्कुजन्मदम् ॥ १२ ॥

मरणके सात भेद आगममें बतलाये गये हैं---बालबालमरण, बालमरण, बालपण्डितमरण, तीन प्रकारका पण्डितमरण (भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन) तथा पण्डितपण्डितमरण। इनमेंसे बालबाल नामका कुमरण निन्द्य माना गया है, क्योंकि वह मिथ्यादृष्टियोंके होता है और अनेक खोटे जन्मोंको देनेवाला है ॥ ११-१२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ पर जो बालबाल आदि सात प्रकारके मरण बतलाये गये हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— बालनाम छोटेका है और वे पाँच प्रकार होते हैं—(१) अव्यक्तबाल, (२) व्यवहारबाल, (३) दर्शनबाल, (४) ज्ञानबाल और (५) चारित्रबाल। जिसका शरीर धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थोंके करनेमें असमर्थ हो, उसे अव्यक्तबाल कहते हैं। जो लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहारको नहीं जाने तथा अल्प-अवस्थाका धारक हो ऐसे बालकको व्यवहारबाल कहते हैं। स्व-परके तत्त्वश्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवको दर्शनबाल कहते हैं। भेद-विज्ञान या सम्यग्ज्ञानसे रहित मिथ्याज्ञानी जीवको ज्ञानबाल कहते हैं। सम्यक्चारित्रसे रहित अव्रती जीवको चारित्रबाल कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकारने मिथ्यादृष्टि जीवको बालबाल कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण दर्शनबाल भी है और सम्यक्चारित्रसे रहित होनेके कारण चारित्रबाल भी है। जो दर्शनबाल होता है वह ज्ञानबाल तो होता ही है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबाल मरण कहा गया है। जो सम्यग्दर्शनसे युक्त तो है, परन्तु जिसके सम्यक्चारित्र नहीं है, ऐसे अव्रतसम्यग्दृष्टि जीवके मरणको बालमरण कहते हैं। देशव्रतोंके धारक श्रावकोंको बालपण्डित कहा गया है। (इसका कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा बाल नहीं हैं, पण्डित हैं, किन्तु उनका चारित्र तो अभी बाल ही है अर्थात् अणुव्रतरूप होनेसे अल्प ही है। ऐसे बाल-पण्डित श्रावकोंके मरणको बालपण्डितमरण कहते हैं) साधु लोग दर्शनकी अपेक्षा भी बाल नहीं हैं और चारित्रकी अपेक्षा भी बाल नहीं हैं, अतएव उन्हें

पण्डित कहा गया है। उनके समाधिमरणको पण्डितमरण कहते हैं। समाधिमरण-के तीन भेद आगे ग्रन्थकारने स्वय बतलाये हैं उनकी अपेक्षा पण्डितमरणके भी तीन भेद हो जाते हैं। केवली भगवानको पण्डित-पण्डित कहते है, क्योकि उनके सर्वोत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व भी है और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यातचारित्र भी है, अतः उनके शरीरत्यागको पण्डित-पण्डितमरण कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

सद्दृष्टीना च बालाख्य ह्यसंयतात्मनां मतम् ।
बालपण्डितसज्ञं श्रावकाणां दृग्व्रतात्मनाम् ॥ १३ ॥

असयतसम्यग्दृष्टियोके मरणको बालमरण और सम्यग्दर्शनसहित देशव्रतधारी श्रावकोके मरणको बालपण्डितमरण कहते है ॥ १३ ॥

इगिन्याख्य च पादो (प्रायो) पगमन मरण परम् ।
मुनीनां भक्तप्रत्याख्यान चेति पण्डित त्रिधा ॥१४॥

पण्डितमरणके तीन भेद है--भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन मरण। यह तीनो प्रकारका पण्डितमरण सकलचारित्रके धारक मुनियोके होता है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ--चारो प्रकारके आहारका क्रमश. त्याग कर प्राण-विसर्जन करनेको भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इस मरणको अगीकार करनेवाला साधु स्वय भी अपने शरीरकी सेवा-टहल करता है और दूसरोंके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्यको भी स्वीकार करता है। इगिनी मरणवाला साधु स्वय तो अपने शरीरकी वैयावृत्य करता है, परन्तु दूसरेके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्य-को स्वीकार नही करता। प्रायोपगमन मरण वाला न तो स्वय ही अपनी वैया-वृत्य करता है और न दूसरेके द्वारा की जानेवाली वैयावृत्यको ही अगीकार करता है। किन्तु प्रतिमाके समान अचल आसनसे अवस्थित रह कर ही गमनाग-मनादि सर्व क्रियाओका परित्याग कर प्राणोका विसर्जन करता है ॥ १४ ॥

केवलज्ञानिना पण्डितपण्डिताह्वय महत् ।
शुभाशुभानि सप्तेति मरणान्युक्तानि चागमे ॥ १५ ॥

केवलज्ञानियोके प्राण-विसर्जनको पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस प्रकार आगममे ये सात प्रकारके शुभ और अशुभ मरण कहे गये है ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—ऊपर जो सात प्रकारके मरण कहे गये है, उनके शुभा-शुभ रूपसे विभाजन की सूचना ग्रन्थकारने यहाँ की है। पर स्वय कोई विभाजन नही किया है। पर भगवतीआराधनाकारने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमे ही गाथाङ्क २७ के

द्वारा उनमेसे पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण इन तीन मरणोकी ही प्रशसा की है। यथा--

पडिदपडिदमरणं च पडिद बालपडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पससति ॥

चूंकि पण्डितमरणके भक्तप्रत्याख्यानादि तीन भेद किये गये हैं। अत तीन प्रकारका पण्डितमरण, पण्डितपण्डितमरण और बालपण्डितमरण इस प्रकार उक्त तीनके पाँच भेद भी हो जाते हैं। इन पांचो मरणोको शुभ जानना चाहिए। अवशिष्ट रहे हुए बालमरण और बालबालमरण अशुभ हैं, यह बात स्वत सिद्ध हो जाती है। जो पांच शुभ मरण बतलाये गये है, उनमे भी उत्तम, मध्यम और जघन्यका भेद है। पण्डितपण्डितमरण इनमे सर्वोत्तम शुभ मरण है। तीनो प्रकारके पण्डितमरण मध्यम शुभ मरण है। इनमेसे प्रायोपगमन मरणसे मरने वाला पञ्च अनुत्तर विमानोमे, इगिनीसे मरने वाला नव ग्रैवेयक और नव अनुदिश विमानोमे और भक्तप्रत्याख्यानसे मरनेवाला यथासभव सोलह स्वर्गोमे उत्पन्न होता है। बालपण्डितमरण जघन्य शुभ मरण है। इससे मरनेवाला श्रावक यथायोग्य स्वर्गमे उत्पन्न होता है। यहां यह शका की जा सकती है कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा अव्रतसम्यग्दृष्टि तो उत्तम है। उसे जघन्य पात्र भी आगममे कहा गया है, फिर उसके मरणको शुभ मरण क्यो नही बतलाया गया? इसका समाधान यह है कि बद्धायुष्क अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव नरकादि खोटी गतियोमे भी उत्पन्न होते हुए देखे जाते है, और नरकादिकी अशुभ गतिमे गणना की गई है, इसलिए नरकादिमे उत्पन्न होने वाले जीवके मरणको शुभ मरण कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार यह अर्थ फलित हुआ कि ऊपर बतलाये गये सात मरणोमेसे बालबाल और बालमरण तो अशुभ हैं और शेप पाँच मरण शुभ हैं ॥ १५ ॥

सम्यग्मृत्यूनमून् ज्ञात्वा सर्वयत्नेन धीधना।
मरण पण्डिताभिख्य साधयन्तु शिवाप्तये ॥ १६ ॥

उत्तम मरणके इन उपर्युक्त भेदोको जान करके बुद्धिमानोको चाहिये कि वे सर्व प्रकारकी सावधानी-पूर्वक शिव-प्राप्तिके लिये पण्डितमरणको सिद्ध करे ॥१६॥

विशेषार्थ—ऊपर जो पण्डितमरणके तीन भेद बतलाये गये है उनमे सबसे पहले भक्तप्रत्याख्यान मरणको सिद्ध करना चाहिये। उसकी विधि यह है—समाधिमरणकी आराधनाका इच्छुक गृहस्थ या मुनि जब यह देखे कि

मेरा मरण-काल समीप आता जा रहा है, तब वह स्वजन-परिजनोंसे मोह-ममताको तथा शत्रु आदिसे वैर-भावको छोडकर सब लोगोंसे क्षमा-भाव मांगे और सबको क्षमा प्रदान करे। पुन निश्छल भावके साथ अपने जीवनमे किये हुए सर्व पापोकी आलोचना करके यदि वह गृहस्थ है, तो जीवन पर्यन्तके लिए हिंसादि पापोका सर्वथा त्याग कर महाव्रत धारण करे और यदि वह मुनि हो, तो अपने महाव्रतोमे और भी शुद्धिको बढावे। तदनन्तर खान-पानमेसे पहले खाद्य-पदार्थोंके आहारको क्रमश घटाना प्रारम्भ करे और स्निग्ध-पान—दूध आदिपर निर्भर रहनेका अभ्यास करे। पुन स्निग्ध पानको भी कम करके खर-पान—छाछ आदि पर निर्भर रहनेका अभ्यास करे। कुछ दिनों बाद छाछ आदिका पीना भी बन्द करके केवल उष्ण जल पीकर कुछ दिन बितावे। जब देखे कि मेरा बिलकुल ही अन्तिम समय आ गया है, तब जलके पीनेका त्याग करके सर्वथा निराहार रहकर जब तक जीवित रहे तब तक उपवास करता रहे। इस प्रकारसे आहारका क्रमश त्यागकर निराहार रहते हुए प्राण-त्यागको भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते है। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्षका बतलाया गया है। इस भक्तप्रत्याख्यानके सिद्ध कर लेनेपर अर्थात् उपवास करना प्रारंभ करने पर वह क्षपक (समाधिमरण करने वाला व्यक्ति) शरीरके उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए भी दूसरेके द्वारा की जानेवाली सेवा-टहल आदि समस्त प्रकारकी वैयावृत्यका त्याग कर देता है और जितना अपनेसे बनता है, अपनी सेवा टहल स्वय करते हुए समाधिपूर्वक प्राण-त्याग करता है, तब उसे इंगिनीमरण नामका दूसरा पंडितमरण कहते है। जब क्षपक इस प्रकारके मरणको भी सिद्ध कर ले और देखे कि अभी मेरा जीवन और कुछ शेष है, तथा शरीर, इन्द्रियादिक सशक्त हैं, तब वह दृढ सहननका धारी ज्ञानी क्षपक अपने द्वारा की जानेवाली सर्व प्रकारकी सेवा-टहलका भी परित्याग कर देता है और अपनी गमनागमनादि सारी शारीरिक क्रियाओको तथा वचनालापादि वचन-क्रियाओको भी त्यागकर मूर्तिके समान बैठकर या लेटकर प्रतिमायोगको धारण कर लेता हैं एवं शरीर छूटने तक उसी प्रकारसे अचल पडे हुए आत्म-चिन्तन करता रहता है, न वह हाथ-पैर हिलाता है और न आँख आदि खोलकर किसीको देखता ही है। न वह किसीसे बोलता है और न किसीको बात ही सुनता है। वह तो अपने आपमें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार प्रतिमाके समान स्थिर योगपूर्वक जो प्राण त्याग किये जाते हैं उसे प्रायोपगमन नामका पण्डितमरण कहते हैं। इनमेसे आजके युगमे अन्तिम दोनो मरणोका सिद्ध करना सभव नही है, क्योकि उनके करनेका अधिकारी उत्तम सहननका धारी बतलाया गया है। अत आजके युगमे भक्तप्रत्याख्यान

नामका पंडितमरण ही सिद्ध करना चाहिए ॥ १६ ॥

अब आगे ग्रन्थकार इस बातका निरूपण करते हैं कि कैसी अवस्थामे और क्यो समाधिमरण अंगीकार करना चाहिये—

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये ।
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यये ॥ १७ ॥
धर्मध्यान-तनूत्सर्गहीयमानादिके सति ।
संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये ॥ १८ ॥

इन्द्रियोकी शक्ति मन्द हो जानेपर, अतिवृद्धपना आजानेपर, उपसर्ग आनेपर, व्रतका क्षय होनेपर, देशव्यापी महान् दुर्भिक्ष पडने पर असाध्य तीव्र रोगके आनेपर, शारीरिक बलके क्षीण होनेपर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करनेकी शक्ति उत्तरोत्तर हीन होनेपर बुद्धिमानोको चाहिए कि आत्म-कल्याणके लिए संन्यास विधिसे मृत्युको सिद्ध करें—सल्लेखना-विधिसे समाधिमरण अङ्गीकार करें ।

भावार्थ—उक्त कारणोमेसे किसी भी कारणके मिलनेपर संन्यासको ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ १७, १८ ॥

विशेषार्थ—श्लोक नं० १६ के विशेषार्थमे बतलाये गये इस प्रकारके भक्त-प्रत्याख्यानमरणको अंगीकार कर सहर्ष मृत्युके आवाहन एवं आलिंगनको ही सन्मृत्युकी सिद्धि कहते हैं । श्लोक नं० १८ मे 'हीयमान' पदके आगे जो आदि पद दिया है उससे कितने ही और अन्य कारणोकी सूचना की गई है, जिनके कि उपस्थित होने पर आचार्योंने समाधिमरण करनेका विधान किया है । यथा—जलमे बह जाने पर, विकट अटवीमे भटक जाने और खोजनेपर भी मार्गके नही मिलनेपर, आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए विमान आदिके विध्वस्त होने आदिके अवसर पर, सहसा दृष्टिके चले जानेपर, बहरे हो जानेपर और विहार करनेकी शक्ति नही रहनेपर व्रती गृहस्थ और मुनिको समाधिमरण अंगीकार कर लेना चाहिए ॥ १७-१८ ॥

सर्पदष्टोपसर्गादौ स्व (स) सन्देहे समागते ।
मरणेऽनशनं ग्राह्यं द्विधेद मुक्तये बुधैः ॥ १९ ॥
एतस्मिन्नुपसर्गादौ यदि मे प्राणनाशनम् ।
तर्ह्यस्त्यनशनं यावज्जीवं चतुर्विध परम् ॥ २० ॥
कथञ्चिच्च स्वपुण्येन जीविष्याम्युपसर्गतः ।
ततोऽहं पारण क्यात करिष्ये धर्मसिद्धये ॥ २१ ॥

सापके द्वारा काटे जानेपर या उपसर्गादिके समय मरणमें सन्देह उपस्थित होनेपर बुद्धिमानोंको दो प्रकारका अनशन ग्रहण करना चाहिए। वह इस प्रकार करे कि यदि इस उपसर्गादिमे मेरे प्राणोंका नाश होता है, तो मेरे यावज्जीवनके लिए चारो प्रकारके आहारका त्याग है। यदि कदाचित् किसी प्रकारसे अपने पुण्यके द्वारा इस उपसर्गसे जीवित बच जाऊंगा तो धर्म-साधनके लिए मैं आगम-विहित पारणाको[१] करूंगा ॥ १९, २०, २१ ॥

इति संन्यासमादाय हृदि (सन्तः) उपद्रवे।
नमस्कारादिसद्-ध्यानैस्तिष्ठन्तु निर्भयामृतम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार उपद्रवके आनेपर साधुजन आत्म-साक्षीपूर्वक हृदयमे संन्यासको धारणकर नमस्कार-मंत्र आदिके जप और ध्यानके साथ मरण होने तक निर्भय होकर रहे ॥ २२ ॥

तदेव मनसाऽऽधेयं स्वोपसर्गाय सज्जनैः।
यद्यहो जीवितव्यं नोऽत्रास्मात् घोरोपसर्गतः ॥ २३ ॥
ततो यशो जगद्-व्यापि धर्मः क्षमादिभिर्महान्।
मरणेऽमुत्र च नूनं प्राप्स्यन्ति विभूतयः ॥ २४ ॥
इतीहामुत्र लाभोऽस्मान्मृत्युना जीवनेन वा।
ततो भीतिः कुतो मृत्योरस्माक धर्मभागिनाम् ॥ २५ ॥

उस समय (संन्यास-कालमे) साधुजन मनमे यह विचार करें कि यदि इस घोर उपसर्गसे हमारा जीवन सुरक्षित रहता है, तो जगद्व्यापी यश रहेगा और क्षमादिके धारण करनेसे महान् धर्म होगा। यदि कदाचित् मरण हो गया, तो परलोकमे निश्चयसे इन्द्रादिकी विभूतिया प्राप्त होगी। इस प्रकार मृत्युसे या जीवनसे हमे इस लोक और परलोक दोनोमे ही लाभ है। फिर धर्म-धारण करनेवाले हमारे लिए मृत्युसे भय क्यों होना चाहिए ? अपितु नही होना चाहिए ॥ २३, २४, २५ ॥

निश्चित्येत्युपसर्गेऽपि शिवश्री-साधनोद्यताः।
सुभटा इव तिष्ठन्तु रणे संन्यास-वर्मिताः ॥ २६ ॥

उक्त प्रकारसे निश्चय कर शिवलक्ष्मीके साधन करनेमे उद्यत पुरुष

१. अल्पकालके लिए अन्न-जलके त्यागके पश्चात् उनके ग्रहण करनेको पारणा कहते हैं।

उपसर्गरूप रणमे संन्यासरूप कवचको धारण कर सुभटके समान धीर-वीर होकर ठहरे ॥ २६ ॥

मरण चागत ज्ञात्वाऽवश्य स्वस्य सुसाधवः।
केनचित्सुनिमित्तेन कुर्युस्तत्साधनोद्यमम् ॥ २७ ॥

किसी निमित्तविशेष अपने मरणको समीप आया हुआ जानकर साधुजनोंको अवश्य ही समाधिमरणके साधनमे उद्यम करना चाहिए ॥ २७ ॥

तदादौ स्वगण सघ चतुर्विध च वापरम्।
बाल-वृद्धान् सर्वान् क्षमयित्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ २८ ॥
प्रियैर्मनोहरैर्वाक्यैस्त्रिशुद्ध्याऽऽशां निहत्य च।
रागद्वेषादिकालुष्यान् कुर्यात्स्वच्छ मनो मुनिः ॥ २९ ॥

समाधिमणके लिए उद्यत साधु सबसे पहले अपने गणसे, चतुर्विध सघसे, अन्य जनोसे तथा सर्व बाल-वृद्ध मुनियोसे आत्मशुद्धिके लिए. प्रिय एवं मनोहर वचनोद्वारा त्रियोग-शुद्धिपूर्वक क्षमा कराके अपनी समस्त आशाओको तथा राग-द्वेषादि कलुषित भावोंको दूर कर अपने मनको स्वच्छ करे ॥ २८, २९ ॥

ततो नत्वा महाचार्यं सिद्धान्ताचारभूषितम्।
निवेद्य स्वव्रतादीना सर्वान् दोषान् कृतादिजान् ॥ ३० ॥
त्रिशुद्ध्याऽऽलोचन कृत्वा दश-दोषोज्झितो यमी।
यावज्जीवितमादाय व्रत नि शल्यता श्रयेत् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सिद्धान्तके ज्ञान और आचारसे विभूषित महान् निर्यापकाचार्यको नमस्कार करके और अपने व्रतोके कृत, कारित और अनुमोदनादि-जनित सर्व दोषोको मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक दश दोषोसे रहित आलोचना करके जीवन-पर्यन्तके लिए व्रतको ग्रहण कर नि शल्यताको धारण करे ॥ ३०, ३१ ॥

गृहस्थो वा विदित्वाऽऽशु मरणं स्वस्य सस्थितम्।
बन्धु-मित्रारि-भृत्यादीन् क्षमयित्वा मनोहरं ॥ ३२ ॥
वचोभि स्वान्तरे क्षान्त्वा स्वय सर्वत्र शुद्धये।
सूरिं नत्वा स्वशुद्ध्यर्थं कुर्यादालोचन मुदा ॥ ३३ ॥

अथवा कोई गृहस्थ हो और अपना मरण शीघ्र ही समीपमे आया हुआ जाने तो मनोहर वचनोसे बन्धु, मित्र, शत्रु और नौकर-

चाकरोसे क्षमा मागकर और स्वय अपने हृदयमे क्षमा करके आत्म-शुद्धिके लिए सहर्ष अपनी आलोचना करे ॥ ३२, ३३ ॥

तत्कर्तुं गुरुणा दत्त-प्रायश्चित्त तपोऽक्षमा।
धनिनो ये जिनागारे स्वयं सर्वत्र शुद्धये ॥ ३४ ॥
दद्युर्धन स्वशक्त्या ते परे दोषादि-हानये।
प्रायश्चित्त तु कुर्वन्तु तपास्यनशनादिभिः ॥ ३५ ॥

(जो समाधिमरणके लिए उद्यत धनी गृहस्थ गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त तपको धारण करनेमे असमर्थ हो, वे स्वय सर्वत्र शुद्धिके लिए जिनालयमे धनका दान करें। तथा दूसरे जन अपने दोषोकी शुद्धिके लिए अपनी शक्तिके अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि अथवा चतुर्थभक्त (१ उपवास), षष्ठभक्त (वेला–२ उपवास), अष्टमभक्त (तेला–३ उपवास) आदि द्वारा प्रायश्चित्त (अपने पापकी शुद्धि) को करे)। ३४,३५ ॥

ततो बाह्यान्तरान् सङ्गान् मुक्त्वा मोहाक्ष-विद्विष.।
हत्वा सवेग-शस्त्रेण प्रणम्याऽऽचार्यसत्तमम् ॥ ३६ ॥
समाधिमृत्यु-सिद्धचर्थं नि स्पृहोऽङ्गधनादिषु।
सस्पृह परलोकार्थे गृही गृह्णन्तु संयमम् ॥ ३७ ॥

(तत्पश्चात् वह गृहस्थ बाहरी और भीतरी परिग्रहको छोडकर तथा सवेगरूप शस्त्रके द्वारा मोह और इन्द्रियरूपी शत्रुका घात कर समाधि-मरणकी सिद्धिके लिए शरीर और धनादिमे नि स्पृह होकर और पर-लोकके अर्थमे सस्पृह होकर श्रेष्ठ निर्यापकाचार्यको प्रणाम करके संयम-को ग्रहण करे)। समाधिमरण करानेवाले आचार्यको निर्यापकाचार्य कहते है ॥ ३६,३७ ॥

ततोऽसौ क्षपक कुर्वन् सर्वशक्त्या तपोऽनघम्।
द्विधा सल्लेखना कुर्याद्‌ कषाय-शरीरयो ॥ ३८ ॥

तदनन्तर वह क्षपक अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे निर्दोष तपको करता हुआ कषाय और शरीरको कृश करनेके लिए दोनो प्रकारको सल्लेखना-को करे। सल्लेखना या समाधिमरण करनेवाले साधुको क्षपक कहते हैं ॥ ३८ ॥

क्षमादि-सद्-गुणास्त्रोघैः कषायारि-कुल-क्षयम्।
कृत्वा क्षपक आत्मार्थं स्वाद्या सल्लेखना श्रयेत् ॥ ३९ ॥

वह क्षपक क्षमा आदि सद्-गुणोंके समुदायद्वारा कषायरूपी शत्रुओंके कुलका क्षय करके आत्म-कल्याणके लिए पहली कषायसल्लेखनाको धारण करे ॥ ३९ ॥

क्षमाखड्गे कोपारिं मानारिं मार्दवाऽसिना।
त्रिशुद्धयाऽऽर्जवशस्त्रेण हन्यान्मायां कुराक्षसीम् ॥ ४० ॥
सन्तोषासि-प्रहारेण लोभ-शत्रुं निकन्दयेत्।
इत्येतैः स कषायान् सर्वथा जयेत् ॥ ४१ ॥

क्षमारूपी खड्गसे क्रोधरूपी शत्रुको, मार्दवरूपी तलवारसे मानरूपी शत्रुको, तीनो योगोंकी शुद्धिरूप आर्जवशस्त्रके द्वारा मायारूपी कुराक्षसीको मारे तथा सन्तोषरूपी असिके प्रहारसे लोभरूपी शत्रुका विनाश करे। इस प्रकार वह क्षपक कषायोंके प्रतिपक्षी क्षमादि सद्-गुणोंके द्वारा कषायोंको सर्वथा जीते ॥ ४०,४१ ॥

यतोऽतिविषमाः सर्वेः कषायाः दुर्जया नृणाम्।
घातयन्ति गुणान् विश्वान् दृग्ज्ञान-चरणादिकान् ॥ ४२ ॥

ये सर्व ही कषायें अति-विषम एवं दुर्जय है तथा मनुष्योंके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि समस्त गुणोंका घात करती हैं ॥ ४२ ॥

घ्नन्त्येते शम-साम्राज्यं धर्म-सद्ध्यान-संयमैः।
सदाऽनघं च कुर्वन्ति नयन्ति नरकं जनान् ॥ ४३ ॥

ये कषायें शमभावरूप साम्राज्यका विनाश करती हैं और मनुष्योंको धर्म, सद्ध्यान और संयमसे गिराकर उन्हे सदा पापमे प्रवृत्त कराती हैं तथा प्राणियोंको नरकमे ले जाती है ॥ ४३ ॥

अहो कषाय-संग्रस्ताः प्राणिनो दुर्भवाऽटवीम्।
अनन्तां स्वादिहीनाञ्च भ्रमिता दुःख-विह्वलाः ॥ ४४ ॥

अहो! कषायोंसे संग्रस्त इन प्राणियोंने दुःखोंसे विह्वल होकर आदि-अन्त-रहित इस भयानक भवाटवीमे चिरकालसे परिभ्रमण किया है ॥ ४४ ॥

पराधीना भ्रमन्त्यद्य भ्रमिष्यन्ति सुखच्युता।
जेतुं दुष्टान् कषायारीनशक्ता यावदञ्जसा ॥ ४५ ॥

कषायोंसे पराधीन और सुखसे च्युत हुए ये दीन प्राणी आज संसारमे भ्रमण कर रहे हैं और जब तक इन दुष्ट कषायरूप शत्रुओंको

जीतनेमे समर्थ न होगे, तव तक नियमसे परिभ्रमण करते रहेगे ॥ ४५ ॥

कषाया विकृर्ति यावज्जनयन्ति सतामपि ।
योगशुद्धिः कुतस्तावत्तया विना क्व संयमः ॥ ४६ ॥

जव तक कषाये सन्त पुरुषोके भी विकार पैदा करती है, तव तक उनके योगोकी शुद्धि कैसे सम्भव है और उसके विना संयम कहाँ हो सकता है ? ॥ ४६ ॥

तपो चात्र शुभ ध्यान सत्क्रिया च शुभाः गुणाः ।
एतैर्विना क्व सन्यास-शुद्धिः कथ शुभा गतिः ॥ ४७ ॥

शुभ ध्यान ही इस संन्यास अवस्थामे तप है और सत्क्रियाओका आचरण करना ही शुभ गुण है। इनके विना संन्यासकी शुद्धि कहाँ सम्भव है और शुभ गति भी कैसे हो सकती है ? ॥ ४७ ॥

इत्थ विचिन्त्य तद्दोषान् क्षपक सर्वशक्तितः ।
जयेत्सर्वान् कषायारीनाद्यसल्लेखनाऽऽप्तये ॥ ४८ ॥
यतो जितकषायारिः सन्यासस्थ क्षमो भवेत् ।
पञ्चाक्ष तस्करान् हन्तु विश्व-सत्कार्यसाधने ॥ ४९ ॥

इस प्रकारसे क्षपक कषाओके दोषोका चिन्तवन कर पहली कषाय-सल्लेखनाकी प्राप्तिके लिए अपनी सर्व शक्तिसे समस्त कषायरूपी शत्रुओको जीते, क्योकि कषायरूपी शत्रुओको जीतने वाला संन्यासमे स्थित साधु ही पंच इन्द्रियरूप चौरोके विनाश करनेके लिए तथा सभी सत्कार्योके साधन करनेके लिए समर्थ होता है ॥ ४८,४९ ॥

ततः संशोध्य षष्टाष्टम-पक्षादि-सुशोषकैः ।
विरक्त्या गात्रमत्यर्थं सोऽङ्गसल्लेखनां चरेत् ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् वेला, तेला, पक्ष, मास आदिके उपवासोके द्वारा शरीरको अच्छी तरहसे शुद्ध करके वह साधु विरक्तिके साथ उत्तम प्रकारसे काय-सल्लेखनाका आचरण करे ॥ ५० ॥

भावार्थ—कषायोके कृश करनेके पश्चात् शरीरको क्रमशः कृश करते हुए उसे निर्विकार बनावे ॥ ५० ॥

एतत्सिद्धये योगी चिन्तयेद्रागदूरग ।
तपः-संन्यास-सिद्ध्यर्थं कायादि-राग-हानये ॥ ५१ ॥

शरीर-सल्लेखनाकी सिद्धिके लिए तथा तप और सन्यासकी सिद्धिके लिए एवं शरीरादि सम्बन्धी रागभावके विनाशके लिए

रागसे दूर रहता हुआ योगी इस (वक्ष्यमाण) प्रकारसे चिन्तवन करे ॥ ५१ ॥

अज्ञानेन चिरं कालमेतत्कायकलेवरम् ।
रागान्धेन मया निन्द्यं पोषितं भोः मुहुर्वृथा ॥ ५२ ॥

अहो ! रागसे अन्ध बनकर मैंने अज्ञानसे इस निंद्य कायके कलेवर (मास) को वृथा ही बार-बार पोषण किया ॥ ५२ ॥

यथा काष्ठभरैरग्निश्चाब्धिर्नदीशतैः क्वचित् ।
याति तृप्ति न कायोऽयं तथा विश्वान्नभक्षणैः ॥ ५३ ॥

जिस प्रकार काष्ठके भारसे अग्नि तृप्त नही होती और जिस प्रकार सैकडो नदियोके समावेशसे समुद्र भी कभी तृप्तिको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार यह शरीर भी संसारके समस्त अन्नोके भक्षणसे कभी भी तृप्त नही होता है ॥ ५३ ॥

पोषितोऽयं वपुः-शत्रुर्दत्ते श्वभ्रादि-दुर्गतीः ।
परत्रात्रैव रुक्कोटीर्नृणा च दुर्जनादिवत् ॥ ५४ ॥
यथा यथाऽन्न-पानाद्यैः पोष्यते देह-दुर्जनः ।
तथा तथाऽऽत्मनो दद्याद्विकृतिं श्वभ्रकारिणीम् ॥ ५५ ॥

पोषण किया गया यह शरीररूपी शत्रु पर-भवमे नरकादि दुर्गतियोको देता है और इस जन्ममे ही दुर्जन पुरुषादिके समान मनुष्योको (प्राणियोको) कोटि-कोटि रोगोसे पीडित करता है । यह दुर्जन देह ज्यो-ज्यो अन्न-पानादिके द्वारा पोसा जाता है, त्यो-त्यो ही वह आत्माको नरक ले जानेवाले विकारको उत्पन्न करता है । ५४,५५ ॥

यैर्मूढैः पोषितः कायस्तैः स्वजन्म वृथा कृतम् ।
शोषितो यैस्तपोयोगैस्तेषा सार्थञ्च जीवितम् ॥ ५६ ॥

जिन मूढ पुरुषोने इस कायका (विविध प्रकारके खान-पानादिसे) पोषण किया उन्होने अपने जन्मको वृथा गवाँया । किन्तु जिन महापुरुषोने अनशनादि तपोयोगके द्वारा इसका शोषण किया, अर्थात् इसे सुखाया, उन्होने जीवनको सफल बनाया ॥ ५६ ॥

तपाया

छिद्र-भाजन-सादृश्याङ्गस्य नित्यं प्रपूरणैः ।
किं रिक्तीकरणाद्यैर्भोः विरक्तिर्न सता भवेत् ॥ ५७ ॥

अहो आत्मन्! (छिद्रयुक्त पात्रके सदृश इस शरीरको नित्य अन्न-पानादिके द्वारा भरनेसे तथा (मल-मूत्रादिके द्वारा) खाली करनेसे क्या लाभ है?) क्या प्रतिदिन इसे भरने और खाली करनेसे सज्जनोको विरक्ति नही होना चाहिए? अर्थात् अवश्य होना चाहिए ॥ ५७ ॥

यथाऽम्बु-सिञ्चनैश्चर्म व्रजेद्दुर्गन्धितां तथा।
शरीरं पोषणैर्विष्ठा-कृम्याद्याकरताञ्च भोः ॥ ५८ ॥

अहो आत्मन्! जिस प्रकार जलके सीचनेसे चमडा दुर्गन्धिताको प्राप्त होता है, उसी प्रकार अन्नादिके द्वारा पोषण करनेसे यह शरीर भी विष्ठाके कृमि आदिका आकर (खानि) पनेको प्राप्त होता है। अतः इसका पोषण करना ठीक नही है ॥ ५८ ॥

यथाऽतिशोषितं चर्म दुर्गन्ध-विकृतिं त्यजेत्।
तथाऽङ्गं शोषितं पुंसां तपोभिर्निर्मलं भवेत् ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार अच्छी तरहसे सुखाया गया चमड़ा दुर्गन्धरूप विकारको छोड़ देता है उसी प्रकारसे तपोके द्वारा सुखाया गया यह शरीर भी मल-मूत्रादि विकारोको तजकर निर्मल बन जाता है ॥ ५९ ॥

असकृद्-भोजनैर्यैर्न सन्तोषो जायते सताम्।
तत्तृष्णा वर्धतेऽत्यर्थं किं कृत्यं तैरघाकरैः ॥ ६० ॥

बार बार किये जानेवाले जिन भोजनोके द्वारा सज्जनोको सन्तोष नही होता प्रत्युत उन भोजनोके करनेकी अत्यधिक तृष्णा बढती है, ऐसे पापके आकर उन भोजनोके करनेसे क्या लाभ है? ॥ ६० ॥

विशेषार्थ सभी प्रकारके भोजन तैयार करनेमे नाना प्रकारके आरम्भ-समारम्भ होते हैं और कोई भी आरम्भ-समारम्भ बिना जीवघातके सम्भव नहीं हैं। इसलिए ग्रन्थकारने भोजनको पापका आकर कहा है। (इसके अतिरिक्त अधःकर्म आदिसे उत्पन्न होने वाला तथा अपने निमित्त बनाया गया एव अन्य जगहसे लाया गया आहार भी साधुके लिये गर्हित या अग्राह्य होनेसे पापकी जननी खानिके समान है)॥ ६० ॥

इदं यत्पोषितं गात्रं प्राक् चिरं स्वेच्छयाऽशनैः।
तस्याद्य फलमात्मार्थं गृह्णामि सत्तपो-यमैः ॥ ६१ ॥
ध्यात्वेति क्षपकश्चित्ते तपोभिर्दुष्करैर्बलात्।
शरीरं शोषयेन्नित्यं वपुःसल्लेखनाऽऽप्तये ॥ ६२ ॥

(चिरकालसे जिस शरीरको मैंने स्वेच्छापूर्वक उत्तमोत्तम

अशन-पानादिके द्वारा पहले पोषा है, उसे अव उत्तम तप-यमादिके द्वारा सुखा करके उसका फल आज मैं अपने हितके लिए प्राप्त करता हुँ)। ऐसा मनमे चिन्तवन करके वह काय-सल्लेखनाकी प्राप्तिके लिए दुष्कर तपोके द्वारा शरीरको वलात् नित्य ही सुखावे ॥ ६१-६२ ॥

तत्सुष्ठु दुर्बलीकृत्य स्तोक-स्तोकान्न-हापनैः ।
क्रमात्तक्रादि-पानं स पिवेत्क्वचित् समाधये ॥ ६३ ॥

वह क्षपक प्रतिदिन थोडा-थोडा अन्न कम करते हुए शरीरको अच्छी तरह दुर्वल करके क्रमसे छाछ आदि पेय वस्तुको चित्तकी समाधिके लिए कदाचित् पीवे ॥ ६३ ॥

ततः सत्पानकं त्यक्त्वा स्वल्प-स्वल्पेन संयमी ।
केवलं च पिवेन्नीरं क्वचित्सद्ध्यान-सिद्धये ॥ ६४ ॥

तदनन्तर वह संयमी स्वल्प-स्वल्प त्याग करते हुए सत्पानक—साधुके पीने योग्य शुद्ध छाछ आदिको भी छोटकर सद्ध्यानकी सिद्धिके लिए केवल जलको पीवे ॥ ६४ ॥

ततो मुक्त्वाऽखिलाऽऽहारं चतुर्विधमनुक्रमात् ।
यावज्जीवं करोत्येष शोषकानघ-हानये ॥ ६५ ॥

इस प्रकार अनुक्रमसे चारो प्रकारके आहारको छोडकर तत्पश्चात् वह क्षपक पापोके क्षय करनेके लिए जीवित रहने तक उपवासोको करे ॥ ६५ ॥

त्वगस्थीभूत-देहोऽपि क्षपको धृति-धैर्यतः ।
क्षुधाद्यान् दुःसहान् सर्वान् परीषह-भटान् जयेत् ॥ ६६ ॥

शरीरमे खाल और हड्डी मात्र शेष रह जाने पर भी क्षपक अपनी धीर-वीरतासे सभी दुःसह क्षुधादिक परीषहरूपी सुभटोको जीते ॥ ६६ ॥

(क्षुधादिकी दुःसह वेदनाके होनेपर क्षपक किस प्रकार चिन्तवन करे, इस वातको वतलाते है—

क्षुधादि-वेदने तीव्रे प्रादुर्भूतेऽतिदुःसहे ।
तज्जयाय शिवार्थञ्च योगीति चिन्तयेद्हृदि ॥ ६७ ॥

क्षुधादिकी अतिदुःसह तीव्र वेदनाके प्रकट होनेपर उसके जीतने एवं आत्म-कल्याण करनेके लिए योगी अपने हृदयमे इस प्रकार चिन्तवन करे ॥ ६७ ॥

अहो मया भवाऽरण्ये भ्रमताऽतिकुकर्मभिः।
बहु-सागर-पर्यन्तं भुक्ता सर्वाङ्ग-शोषणी ॥ ६८ ॥

अहो! अति खोटे कर्मोंके वश होकर इस भव-वनमे परिभ्रमण करते हुए मैंने अनेक सागर-पर्यन्त इस सर्वाङ्ग शोषणी क्षुधावेदनाको भोगा है ॥ ६८ ॥

विश्वान्न-भक्षणाऽसाध्या तीव्रा क्षुद्वेदना परा।
वारानन्तातिगान् सप्तनरकेष्वशनादृते ॥ ६९ ॥
यतः क्षुधा स्वभावेन नारकाणां च्युतोपमा।
सर्वान्नभोजनाशाम्या दु.सहाऽस्त्येव शाश्वता ॥ ७० ॥
तिलमात्राशन जातु लभन्ते तेऽशितु न भोः।
सहन्ते केवलं दीनाः क्षुधां सर्वाङ्गदाहिनीम् ॥ ७१ ॥

हे आत्मन्! नरकोमे क्षुधाकी जो उत्कृष्ट तीव्र वेदना है, वह ससारके समस्त अन्नके खानेसे भी शान्त नही हो सकती है। उसे तूने भोजनके विना ही सातो नरकोमे अनन्त बार सहा है, क्योकि नारकियोंके स्वभावसे ही जो भूख लगती है, उसकी कोई भी उपमा नही दी जा सकती है। वह ससारके सर्व भोजनसे भी कभी शान्त नही हो सकती, सदा दु सह ही है अर्थात् उसे पराधीन रहकर दु खोंके साथ सहन ही करना पडता है। भो आत्मन्! वे दीन नारकी कदाचित् भी तिलमात्र भोजनको नही प्राप्त कर पाते है, किन्तु बेचारे उस सर्वाङ्गदाहिनी क्षुधाको निरन्तर सहन ही किया करते हैं ॥ ६९-७१ ॥

तत्क्षुद्दु.ख क्व बह्वब्धिप्रमाणं मेरु-सन्निभम्।
क्वैतत्सर्षपमात्रं क्षुद्दु:खं को गण्येन्महत् ॥ ७२ ॥

हे आत्मन्! नरकोमे बहुत सागरोपम काल तक भोगा गया वह मेरुके सदृश महान् क्षुधाका दु ख तो कहाँ और यह सरसोके समान जरा-सा क्षुधाका दु ख कहाँ? इसे कौन महापुरुष महान् गिनेगा ॥ ७२ ॥

भावार्थ—हे क्षपक आत्मन्! नरकोमे जो तू मेरुतुल्य भूखके कष्टको भोग आया है, उसके सामने तो अब यह भूखकी वेदना सरसोंके बराबर भी नही है। इसलिए इसे तू शान्तिपूर्वक सहन कर ॥ ७२ ॥

इति ध्यान-सुधाहारैः सन्तोषामृत-भोजनैः।
सदा क्षुद्वेदनां योगी शमयेद्दीनतातिगः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार ध्यानामृतरूप आहारसे या सन्तोषामृतरूप भोजनसे वह योगी दीनतासे अति दूर रहता हुआ क्षुधाकी वेदनाको सहन करे ॥ ७३ ॥

अब ग्रन्थकार तिर्यग्गतिके क्षुधा-जनित दुःखोका वर्णन कर क्षपकको सम्बोधन करते है—

तिर्यग्गतीषु बह्वीषु पराधीनतया मया।
अनुभूता च याऽनन्तवारान् क्षुत्त्रसजातिषु ॥ ७४ ॥
स्थावरेषु धराद्येषु जल-स्थल-खगादिषु।
अनन्तकालमत्यर्थं सा प्रोक्तुं शक्यते कथम् ॥ ७५ ॥

तिर्यग्गतिमे नाना प्रकारकी जलचर, थलचर और नभचर त्रस-जातियोंके भीतर पराधीन होकर मैंने जो अनन्तवार भूखकी वेदना भोगी और पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीवोमे अनन्तकाल तक जो अति दुःसह भूखकी पीड़ा सही, वह कैसे कही जा सकती है ? अर्थात् उसे कहना असम्भव है ॥ ७४,७५ ॥

यतोऽत्र पशवः साक्षाद् दृश्यन्तेऽतिक्षुधाऽऽकुलाः।
केचिद् बन्धनबद्धाङ्गा. केचिज्जालावृता. परे ॥ ७६ ॥
पञ्जरस्था· पराधीना भुञ्जाना· दु खमुल्वणम्।
तस्माद्दुःखभरादेतत्क्षुद्दुःखं किं तपोभवम् ॥ ७७ ॥

अहो साधो ! देखो, रस्सी आदिके बन्धनोसे जिनके शरीर बंध रहे हैं, ऐसे ये कितने ही पशु, तथा जालोंमे फँसे हुए और पिंजरोमे बन्द, ऐसे ये कितने ही पशु-पक्षी पराधीन होकर भूखसे आकुल-व्याकुल होते और अत्युग्र दु खको भोगते हुए साक्षात् दिखाई दे रहे है। फिर उनके उस दु.ख-भारसे यह तपोजनित तुम्हारी भूखका दु:ख कितना-सा है ॥ ७६,७७ ॥

इति चिन्तन-सन्तोषाहारैः प्रत्यक्षवीक्षणैः।
क्षुधाऽऽक्रान्तपशूनां स क्षुधाग्निं शमयेद् बलात् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार भूखकी वेदनासे पीडित पशुओंके प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दुःखोको विचार कर सन्तोषरूप आहारसे वह साधु अपनी भूखकी ज्वालाको दृढतापूर्वक शान्त करे ॥ ७८ ॥

अब ग्रन्थकार मनुष्यगतिके क्षुधा-जनित दु खोका वर्णन कर क्षपकको सम्बोधन करते है—

दरिद्र-नीच-दीनादि-कुकुलेषु नृजातिषु ।
दुर्भिक्षे बन्दि-गेहादौ बन्धने रोगकोटिषु ॥ ७९ ॥
पराधीनतयाऽनेक-लङ्घनैश्च मुहुर्मुहुः ।
प्राप्तोऽहं कर्म-पाकोत्था क्षुद्बाधा प्राण-नाशिनीम् ॥ ८० ॥

मनुष्यगतिके दरिद्र, नीच, दीन आदि खोटे कुलोमे और हीन जातियोमे जन्म लेकर दुर्भिक्ष पडने पर, वन्दीगृह आदिमे वन्धन-बद्ध होनेपर, तथा कोटि जातिके रोगोके होनेपर पराधीन हो बार-वार अनेको लघनोके द्वारा मै कर्म-विपाक-जनित प्राण-नाशक भूखकी घोर पीडाको प्राप्त हुआ हूं ।

दृश्यन्ते नृगतौ साक्षात्केचिद्वन्दिगृहे धृताः ।
अपरे शृङ्खला-बद्धाः गर्ताद्येऽन्ये निवेशिता॰ ॥ ८१ ॥
परे रोगशताऽऽक्रान्ताः कुर्वाणाः बहुलङ्घनान ।
अन्ये च व्यसनार्ताः क्षुधा श्रयन्तोऽतिदुःसहाम् ॥ ८२ ॥

मनुष्यगतिमे कितने ही तो साक्षात् कैदखानोमे वन्द किये दिखाई देते है, कितने ही सॉकलोसे वन्धे हुए और कितने ही गड्ढोमे चिने या गाड दिये गये दिखाई देते है और भूखकी वेदनाको सह रहे हैं। कितने ही लोग संकडो रोगोपे आक्रान्त होकर अनेको लघनोको करते हुए नजर आते है और कितने ही व्यसनोंसे पोडित होकर भूखकी अति दु सह वेदनाको भोग रहे हैं ॥ ८१ ८२ ॥

एभ्य॰ क्षुद्दुःख-राशिभ्यो मुहुर्जातेषु कर्मभि॰ ।
उपवासभवं दुःखं कियन्मात्रमिद सताम् ॥ ८३ ॥

हे आत्मन् ! कर्मोदयसे वार वार उत्पन्न होनेवाली भूखकी इन दुःख-राशियोके सामने तुम्हारा यह उपवासजनित दुःख तुम जैसे सन्तोके लिए कितना सा है ? कुछ भी नही ॥ ८३ ॥

सह्यन्तेऽत्र पराधीनतया लङ्घनराशिभि ।
यथा दु.कर्मजा लोकैः क्षुत्क्लेश-दुःख-कोटयः ॥ ८४ ॥
तथा किन्नात्र सोढव्योपवासादि-तपो-भवा ।
क्वचित्क्षुद्वेदना व्याप्ता दक्षैः सर्वार्थसिद्धिदा ॥ ८५ ॥

हे आत्मन् ! इस जगत्मे लोग पराधीन होकर अनेको लंघनोको करते हुए दु.कर्म-जनित भूखके अति-सक्लेश-कारक करोडो दु खोको जिस प्रकारमे सहन करते हैं, उस प्रकारसे उपवासादि-तपोजनित,

सर्व अर्थको सिद्धि-दायिनी शरीरमे व्याप्त यह क्षुद्वेदना दक्ष पुरुषोको क्यो न सहनी चाहिए ? अर्थात् सज्जनोको स्वय समाहृत यह भूखका दु:ख सहन करना ही चाहिए, क्योकि इससे इष्ट मनोरथ सिद्ध होगे ॥ ८४,८५ ॥

यतो ये तपसे नाहो कुर्वन्ति शोषकान् जडा ।
लभन्ते तेऽघ-पाकेन मुहुर्लङ्घन-सन्ततीः ॥ ८६ ॥
ये सदा कुर्वते दक्षा उपवास-तपो-विधीन् ।
ते स्वप्नेऽपि लभन्ते न रुक्-क्लेश-लङ्घनान् बहून् ॥ ८७ ॥

अहो ! जो मूर्खजन तपके लिए उपवासोको नही करते हैं वे अपने पापोके परिपाकसे वार-वार लघनोकी परम्पराको प्राप्त होते हैं । अर्थात् उन्हे वार-वार लंघन करनी पडती हैं । किन्तु जो चतुर एव कुशल पुरुष उपवास-तपके विविध प्रकारोको सदा करते रहते हैं, वे स्वप्नमे भी विविध रोगोके क्लेशको और लंघनोके कष्टको नही प्राप्त होते है ॥ ८६,८७ ॥

क्वचित्कर्मवशाद्रोग आगतोऽपि तपस्विनाम् ।
स्थितिं कर्त्तुं न शक्नोति तप -सुभट-ताडितः ॥ ८८ ॥
नित्यान्न-भक्षकाणाञ्च लम्पटाना सदाशिनाम् ।
सर्वाङ्गेषु श्रयन्तेऽहो रुग्दु:ख-क्लेश-कोटय ॥ ८९ ॥

उपवासादि तप करनेवाले तपस्वीजनोको यदि कदाचित् कर्मके वशसे कोई रोग आ भी जावे तो वह तपरूपी सुभटसे ताडित होकर स्थिति करनेके लिए समर्थ नही है अर्थात् ठहर नही सकता है । किन्तु जो नित्य ही अन्नके भक्षक है, भोजनके लम्पटी है और जिन्हे रात-दिन खानेकी ही धुन सवार रहती है उनके सारे शरीरमे हे आत्मन् ! करोडो रोगोके दु:ख और क्लेश उत्पन्न हाते रहते हैं ॥ ८८,८९ ।

एतैश्चिन्ता शुभध्यानै. सन्तोषाहार-भोजनैः ।
जयेत्सर्वा क्षुधा-बाधा मृत्यन्ता क्षपकोऽन्वहम् ॥ ९० ॥

इस प्रकारके चितवनरूप शुभ ध्यानसे और सन्तोषरूप आहारके भोजनसे वह क्षपक मरण-पर्यन्त प्रतिदिन क्षुधाकी सारी पीडाको जीते अर्थात् धैर्यपूर्वक उसे सहन करे ॥ ९० ॥

इस प्रकार क्षुधा-परीषहके जीतनेका उपदेश दिया । अब तृषा-परीषहके जीतनेके लिए ग्रन्थकार उपदेश देते है—

पिपासा जायतेऽत्यर्थमन्तर्बाह्याङ्ग-शोषिणी ।
यदा तदाऽऽत्मवान् योगी तज्जयायेति चिन्तयेत् ॥ ९१ ॥

सन्यास-ग्रहण करनेके पश्चात् यदि भीतर और बाहर देहको सुखा देनेवाली प्यासकी अति उग्र पीडा उत्पन्न हो जाय, तो आत्म-श्रद्धावान् वह योगी उस प्यासकी वेदनाको जीतनेके लिए इस प्रकार चिन्तवन करे –

अहो नारक पृथ्वीसु सर्वासु भ्रमता मया ।
विश्वाब्धि-जलपानाद्यैरसाध्यातितृषोल्वणा ॥ ९२ ॥
वाऽपरैः पापिभिः सर्वैः प्राप्ता वारानन्तशः ।
अनेकाम्भोधि-पर्यन्त तीव्रोष्माद्यैश्च्युतोपमाः ॥ ९३ ॥
यतः श्वभ्रे निसर्गेण तृषाग्निर्ज्वलते सदा ।
अशाम्या नारकाङ्गेषु तीव्रा विश्वाब्धिवारिभिः ॥९४॥
बिन्दुमात्राम्बु-पान न लभन्ते जातु नारकाः ।
सहन्तेऽघैः तृषा-ज्वाला दव-ज्वालामिवोर्जिताम् ॥ ९५ ॥

अहो! सभी नारक-पृथिवियोमे परिभ्रमण करते हुए मैने ऐसी उल्वण (विकट) प्यासकी वेदना भोगी है जो कि ससारके समस्त समुद्रोके जलपान आदिसे भी कभी शान्त नही हो सकती थी। तथा मेरे समान अन्य सभी पापी जीवोने भी अनन्त वार अनेक सागर-पर्यन्त तीव्र उष्णतासे उत्पन्न होनेवाली उस प्यासकी ऐसी भयंकर वेदना सही है जिसकी कि ससारमे कोई उपमा मिलना सम्भव नही है। अत (चूँकि) नरकोमे स्वभावसे ही तृषाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, अतः उनमे उत्पन्न होनेवाले नारकी जीवोके शरीरोमे जो प्यासकी तीव्र वेदना होती है, वह विश्वके समस्त सागरोके जलसे भी शान्त नही हो सकती है। किन्तु उन नारकी जीवोको कदाचित् भी बिन्दुमात्र जल पीनेको नही मिलता। और वे नारकी जीव पूर्व पापोके उदयसे दावानलकी ज्वालाके समान अति प्रचण्ड प्यासकी ज्वालाको निरन्तर सहा करते हैं॥ ९२-९५ ॥

इस प्रकार नरकगतिके पिपासा-जनित दु खोका वर्णन कर अव ग्रन्थकार तिर्यग्गतिके पिपासा-जनित दु खोका वर्णन करते हैं—

तिर्यग्गतौ मृगादीना भवेषु मृगतृष्णया ।
मरुस्थले मया प्राप्ता धावता तृट् चिर परा ॥ ९६ ॥

तिर्यग्गतिमें मृगादिके भवोंमें मृगतृष्णासे पीडित होकर मरुस्थलमे दौडते हुए मैंने चिरकाल तक प्यासके महान् कष्टको प्राप्त किया है। (फिर हे आत्मन्! उसके सामने तेरी यह प्यासकी पीडा कितनी है ?) ॥ ९६ ॥

अव मनुष्यगतिमे भोगे गये प्यासके दुःखोका वर्णन करते हैं—

मनुष्येषु दरिद्राद्यैः द्रव्यार्थं भ्रमताऽन्वहम्।
वनाटवी-समुद्रेषु बाह्यान्तर्दाहिनी च तृट् ॥ ९७ ॥
इत्याद्यन्यैश्चिर काल दाह-पित्तज्वरादिभिः।
तरा प्रज्वलिताङ्गोऽह प्रादुर्भूतैस्तृषाऽग्निभिः ॥ ९८ ॥
एतेभ्यश्चिरकालोत्थ-तृड्दु खेभ्यो नृपुङ्गव।
सन्यासस्थोऽल्प-तृड्-दु.ख तपोज कोऽत्र मन्यते ॥ ९९ ॥

मनुष्योमे उत्पन्न होकर और दरिद्रता आदिसे पीडित होकर धन कमानेके लिए वन, अटवी और समुद्रोमे निरन्तर परिभ्रमण करते हुए मैने भीवर और वाहर शरीरको जलानेवाली तृषाकी पीड़ाको चिरकाल तक सहा है तथा ग्रीष्म-दाह और पित्त-ज्वर आदिसे एवं इसी प्रकारके अन्य अनेक कारणोसे उत्पन्न हुई तृषाग्निसे भी अत्यन्त प्रज्वलित होकर मै चिरकाल तक महाकष्टोको भोगता रहा हूं। फिर हे नरपुगव ! हे पुरुषोत्तम! सन्यासमे अवस्थित होकर तपोजनित यह अल्प प्यासका दु ख इन महाकष्टोके सम्मुख कितना-सा है और कौन इसे दु ख मानेगा ? ॥ ९७-९९ ॥

कुगतौ सह्यतेऽहो परवशेन तृषा यदि।
तर्हि किं न हि सोढव्या स्ववशे मुक्तये बुधैः ॥ १०० ॥
इत्थ विचार-पानाद्यैः ज्ञान-ध्यान-सुधारसै.।
क्षपको धैर्ययोगाद्यैर्जयेत्तृषा-परीषहम् ॥ १०१ ॥

अहो आत्मन्! यदि तुमने परवश होकर कुगतियोमे प्यासके अनन्त दु खोको सहन किया है, तो फिर आज स्ववश होकर प्यासके दु खको विद्वज्जन मुक्तिके लिए क्यो न सहन करे ? अर्थात् तुझे भी कर्म-वन्धनसे छूटनेके लिए प्यासके दु खको शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। इस प्रकारके विचारात्मक पान (पेयद्रव्य) आदिके द्वारा और ज्ञान-ध्यानरूप सुधारसके पान द्वारा क्षपक धीर-वीरताके साथ तृषा-परीषहको जीते ॥ १००,१०१ ॥

अब ग्रन्थकार क्षपकको शय्या-परीषह जीतनेका उपदेश देते हैं—

कर्कशे संस्तराद्यै. प्रोत्पद्यते दुःखमात्मनः।
तज्जयाय तदा दक्षैश्चिन्तनीयमिदं मुहुः॥ १०२॥

कर्कश सस्तर--शय्या आदिके--कठोर भूमिपर सोने आदिसे--यदि आत्माके दु.ख उत्पन्न हो, तो उसके जीतनेके लिए-साधुजनोको इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना चाहिए ॥ १०२॥

वज्र-सकट-सकीर्णे भूतले नरकेऽव्वहो।
सहस्र-वृश्चिकातीव-भक्षणादिक-वेदने ॥ १०३॥
बह्वब्ध्यन्त प्रसुप्तोऽह मुहुर्दुःखाग्नि-मध्यगः।
क्वचित्स्फुलिङ्ग-शय्याया प्रक्षिप्तो नारकैर्बलात्॥ १०४॥

अहो आत्मन्! (जब तुम पाप-कर्मके उदयसे नरकोमे उत्पन्न हुए तब तुमने वहांके) वज्रमय तीक्ष्ग काटोसे व्याप्त और हजारो बिच्छुओंके एक साथ काटनेसे उत्पन्न होनेवाली वेदनासे भी अधिक वेदना देनेवाले भूतलपर अनेक सागर-पर्यन्त महादु'खरूप अग्निके मध्यमे बार-बार शयन किया है और स्फुलिग—अग्नि-कण जिसमेसे चारो ओर उड रहे हैं, ऐसी धधकनी अग्नि—जैसी शय्यापर नारकियोंके द्वारा तुम असंख्य बार जबरन फॅक दिये गये अर्थात् सुलाये गये हो। (फिर नरकोकी उस शय्या-वेदनाके सामने आज यह शय्या-जनित दु'ख तुम्हारे लिए कितना-सा है?) ॥ १०३,१०४॥

तिर्यग्योनौ प्रसुप्तोऽह पराधीनो विधेर्वशात्।
खर्प्परोपल-तीक्ष्णादि-कण्टक-व्याप्त-भूतले ॥ १०५॥

और हे आत्मन्! जब तुम दुर्भाग्यके वशसे तिर्यग्योनिमे उत्पन्न हुए, तब तुमने सदा ही खप्पर, पत्थर और तीक्ष्ण कंटक आदिसे व्याप्त भूतलपर शयन किया है। (फिर इस समय क्या उस दुःखको भूल गये हो, और क्या पशुओंके इस शय्या-जनित दुःखको आज अपनी आखोसे नही देखते हो? फिर सोचो, कि तुम्हारे यह तृणादिकी शय्यापर सोनेसे उत्पन्न होने वाला दु ख है ही कितना-सा? अतएव इसे शान्तिपूर्वक धीरताके साथ सहन करो) ॥ १०५॥

दारिद्रय-ग्रसितो दीनः स्वोदरार्थं भ्रमन् महीम्।
शिलाद्रि-कठिनक्ष्मासु सुप्तोऽह नृभवेऽव्वहम्॥ १०६॥

तेभ्यः शयन-दुःखेभ्य इदं संस्तरजं मनाक् ।
स्वीकृताऽनशनो धीरो गणयेत्कः शिवाऽध्वगः ॥ १०७ ॥

और भो आत्मन् ! असख्य मनुष्य-भवोमे भी तू दरिद्र-कुलोंमे जन्म लेकर और दरिद्रतामे पीडित होकर तथा दीन-याचक बन कर अपने उदरकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये भूमण्डलपर परिभ्रमण करता हुआ क्या शिलाओपर और पर्वतोकी कठोर एव कर्कश भूमियोपर असंख्यवार नही सोया है ? फिर स्वय सहर्ष उपवासोको स्वीकार करने वाला कौन धीर-वीर शिव-पुरीका पथिक उन शयन-जनित दु खोसे इस तृण-संस्तर-जनित जरा-से दु खको दु ख गिनेगा ? ॥ १०६,१०७ ॥

भावार्थ—नरक, तिर्यंच और दीन-दरिद्र मनुष्यके भवोंमे तूने असंख्यवार जो शय्या-जनित अनन्त दु खको परवश होकर भोगा है, उसके सामने यह स्वय स्वीकृत शय्या-जनित दु.ख है ही कितना-सा ? अत. इसे शान्ति और धीर-वीरताके साथ सहन कर ॥१०६, १०७ ॥

इत्यन्य-वशोत्पन्न-शयन-ध्यान-चिन्तनैः ।
सस्तरोद्भवमात्मार्थी जयेच्छय्या-परीषहम् ॥ १०८ ॥

इस प्रकार नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यके भवोमे अन्यके वशसे उत्पन्न शय्या-जनित दु.खोके ध्यान और चिन्तनके द्वारा आत्म-हितका इच्छुक क्षपक तृण-सस्तर-जनित शय्या-परीषहको जीते ॥ १०८ ॥

इस प्रकार शय्या-परीषहके जीतनेका उपदेश देकर अब ग्रन्थकार अरति-परीषहके जीतनेका उपदेश देते हैं—

बहूपवास-बाधाद्यैर्जाताऽरति-परीषहम् ।
सिद्धान्ततत्त्व-चिन्ताद्यैर्रतिं कृत्वा जयेत्सदा ॥ १०९ ॥

बहुत उपवास करनेसे यदि कोई शारीरिक-बाधादि उत्पन्न हो और उससे उपवास आदि करनेसे मनमे अरुचि उत्पन्न हो या धर्म-साधनमे अरति या अनुत्साह उत्पन्न हो तो क्षपकको चाहिए कि वह अपने चित्तको सिद्धान्त-तत्त्वोके चिन्तन आदिमे लगाकर धर्म-साधन एव आत्माराधनमे रत होकर सदा अरति-परीषहको जीते ॥ १०९ ॥

अब ग्रन्थकार रोग-परीषहको जीतनेका उपदेश देते है—

यद्यसद्वेद्य-पाकेन कश्चिद् रोगोऽत्र जायते ।
तद्बाधा-जयनार्थेषस्तदेद चिन्तयेद्धृदि ॥ ११० ॥

यदि असातावेदनीय कर्मके विपाकसे इस समाधिमरणके अवसरपर

कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो उसकी बाधाको जीतनेके लिए वह क्षपक अपने हृदयमे इस प्रकार चिन्तवन करे ॥ ११० ॥

गात्रं तुदति रोगोऽय नामूर्त्तं मां चिदात्मकम् ।
यथा गृहं दहेदग्निस्तदन्तस्थं नभो न च ॥ १११ ॥

अहो आत्मन ! यह रोग इस जड़ शरीरको पीडा देता है, किन्तु अमूर्त एव चिदात्मक मुझे पीडा नही देता है। जैसे घरमे लगी हुई अग्नि जड घरको जलाती है, किन्तु घरके भीतर वर्तमान अमूर्त आकाश-को नही जलाती ॥ १११ ॥

यो रुक् पूर्वार्जिताऽघानां विनाश कुरुते मम ।
स्वल्प-दु:खादि-दानैः स कथं नेष्टो हितङ्करः ॥ ११२ ॥

और जो रोग मेरे पूर्वोपार्जित पापा कर्मोका विनाश करता है, वह यदि स्वल्प दु खादि भी देता है, तो भी वह महान हितकारी है, क्योकि वह महापापोसे विमुक्त करता है। अत वह इष्ट कैसे नही है ? अर्थात् रोगको इष्ट जनके समान आत्म-हितकर ही मानना चाहिए ॥ ११२ ॥

तदा वा धीमता रोग-क्लेशादिभि प्रतिक्षणम् ।
देहादौ क्षीयते राग' सवेगो वर्धते तराम् ॥ ११३ ॥
इति संज्ञान-चिन्ताद्यं सर्वो रोगपरीषहः ।
सह्यते क्षपकै कृत्स्न शक्त्या दुःकर्म शान्तये ॥ ११४ ॥

और रोग-जनित क्लेशादिसे तो बुद्धिमानोका शरीर आदिमे राग प्रतिक्षण क्षीण होता है और अत्यन्त सवेग बढता है। इस प्रकार सम्यक्-ज्ञानके द्वारा चिन्तनादि करते हुए सभी क्षपक-जन सर्व रोग-परिषहको अपने समस्त दुष्ट-कर्मोको शात करनेके लिए सहन करते है। सो हे आत्मन् ! तुझे भी यह रोग-जनित कष्ट सम-भावपूर्वक धीरताके साथ सहन करना चाहिए ॥ ११३,११४ ॥

इस प्रकार क्षुधादि परीषहोके सम-भावपूर्वक सहनेका उपदेश देकर अव ग्रन्थकार चारो आराधनाओकी उत्तरोत्तर शुद्धि करनेका विधान करते है—

ततोऽद्भुत-पदाप्त्यै स्वान्तःशुद्धि विधाय सः ।
चतुराराधना-शुद्धि त्रिशुद्धया कुरुतेऽन्वहम् ॥ ११५ ॥
सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-तप.सञ्ज्ञा इमा मताः ।
आराधनाश्चतस्रोऽत्र विश्वाऽभीष्ट-फल-प्रदाः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार भूख, प्यास और रोगादिकी वेदनाको शान्तिपूर्वक सहन करनेके पश्चात् या उन्हे सम-भावसे सहते हुए वह क्षपक सर्व-अभीष्ट फलोको देनेवाली सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तपसंज्ञक इन चारो आराधनाओकी शुद्धिको त्रियोग शुद्धिमे करे।

भावार्थ—तदनन्तर क्षपकको प्रतिदिन मन-वचन-कायकी शुद्धि-द्वारा चारों आराधनाओकी उत्तरोत्तर शुद्धि करना चाहिए, क्योकि ये चारो आराधनाएं ही अभ्युदय और निःश्रेयसरूप सर्व वाञ्छित फलोको देती हैं ॥ ११५-११६ ॥

अव ग्रन्थकार सर्वप्रथम सम्यक्त्व-आराधनाकी शुद्धिके लिए उपदेश देते हैं—

> दृग्विशुद्धिर्विधेयाऽऽदौ निःशङ्कादिगुणाष्टभिः।
> *त्यक्त्वा शङ्कादिदोषाष्टौ त्रिधा मूढत्वमञ्जसा ॥ ११७ ॥*
> जात्याद्यष्टमदान् निद्यान् पोढाऽनायतनानि च।
> श्रद्धा-रुचि-प्रतीत्याद्यैस्तत्त्वार्थार्हन्महात्मनाम् ॥ ११८ ॥

सवसे पहले शङ्कादि आठ दोषोको, तीनो मूढताओको, जाति-कुलादिक निंद्य आठो मदोको और छहो अनायतनोको नियमसे दृढता-पूर्वक छोडकर और निःशंकित आदि आठ गुणोको धारणकर तत्त्वार्थ एव अर्हन्त परमेष्ठीकी श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदिके द्वारा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करना चाहिए ॥ ११७,११८ ॥

विशेषार्थ—देव, शास्त्र, गुरुकी और सप्त तत्त्वोकी दृढ प्रतीति करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए जिन शङ्कादि पच्चीस दोपोको छोडने और निःशकित आदि आठ गुणोको धारण करनेकी ग्रन्थकारने सूचना की है, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

१. शंका-दोष—जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंमे सन्देह करना।

२. काक्षा-दोष—धर्म-सेवनके द्वारा किसी भी प्रकारके लौकिक लाभकी इच्छा करना।

३. विचिकित्सा-दोष—रत्नत्रयधारियोके मलिन देहको देखकर घृणा करना।

४. मूढदृष्टि-दोष—अपनी दृष्टिको स्व-पर-विवेकसे शून्य रखना।

५ अनुपगूहन-दोष—दूसरोंके अवगुणोको और अपने गुणोको प्रकट करना।

६ अस्थितिकरण-दोष—विषय-कषायादिके निमित्तसे सम्यक्त्व या चारित्रसे गिरते हुए मनुष्यको स्थिर करनेका प्रयत्न न करके उसे गिरानेका प्रयत्न करना।

७ अवात्सल्य-दोष—अपने साधर्मी भाईयोंके साथ प्रेममय व्यवहार न रख करके उनके साथ छल करना, उनसे ईर्ष्यादि करना।

८. अप्रभावना-दोष—अपने भीतर सामर्थ्यके होने हुए भी सद्धर्म-प्रचार-के कार्योंको नहीं करना और करते हुए लोगोको निरुत्साहित करना।

ये शंकादि आठ दोष हैं।

९ जाति-मद—अपनी माताके उच्चजातीय होनेका गर्व करना।
१० कुल-मद—अपने पिताके उच्चवंशीय होनेका मद करना।
११. ज्ञान-मद—अपनी विद्या-बुद्धि आदिका अहकार करना।
१२ पूजा-मद—अपनी लोक-प्रतिष्ठा-मान्यतादिका अभिमान करना।
१३. बल-मद—अपने बल-वीर्यका गर्व करना।
१४. ऋद्धि-मद—अपने धन-वैभवादिका मद करना।
१५ तपश्मद—अपनी तपस्यादिका अहंकार करना।
१६ वपु-मद—अपने शरीरकी सुन्दरताका अभिमान करना।
ये आठ मद-दोष है—
१७ कुगुरु-सेवा—ढोंगी-पाखण्डी गुरुओकी सेवा करना।
१८. कुधर्म-सेवा—रागी-द्वेषी देवताओंकी उपासना करना।
१९ कुदेव-सेवा—राग-द्वेष-वर्धक मिथ्या-धर्मकी आराधना करना।
२० कुगुरु-सेवक-प्रशंसा—कुगुरुके भक्तोकी प्रशसा करना।
२१ कुदेव-सेवक-प्रशंसा—कुदेवके भक्तोकी सराहना करना।
२२ कुधर्म-सेवक-प्रशसा—कुधर्म-सेवकोकी अनुमोदना करना।
ये छह अनायतन—अधर्म-स्थान कहलाते हैं।

२३ लोक-मूढ़ता—धर्म समझकर गगादि नदियोंमे स्नान करना, अग्नि-प्रवेश करना, पर्वतसे गिरना एव इसी प्रकारकी लौकिक मूढताओको करना।

२४ देव-मूढता—अभीष्ट फलकी प्राप्तिकी आशासे रागी-द्वेषी देवताओं-की आराधना करना।

२५ पाखण्डि-मूढ़ता—आरम्भी-परिग्रही एवं मिथ्यात्वी साधुओका आदर-सत्कार करना, उन्हें उत्तम बताना।

ये तीन मूढताएँ कहलाती हैं। इस प्रकार शंकादि आठ दोष, जातिमद आदि आठ मद, कुगुरु-सेवादि छह अनायतन और लोकमूढतादि तीन मूढताएँ, ये सब मिलकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते है। इनको दूर करनेसे तथा निःशंकित आदि आठ अगोको धारण करनेसे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है। ऊपर जो शंकादि आठ दोष बतलाये हैं, उनके नहीं करनेसे क्रमशः निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना नामके आठ गुण प्रकट होते हैं ॥ ११७-११८ ॥

एकया दृग्विशुद्ध्याऽहो सर्वा ज्ञानादिशुद्धयः।
स्वयमेव भवन्त्याशु तां विना ता निरर्थिकाः ॥ ११९ ॥
ज्ञात्वेति क्षपकैर्यत्नाद्विशुद्धिर्दर्शनस्य भोः।
कार्या विश्वान् भयान् दोषान् हत्वा ज्ञानादिशुद्धये ॥ १२० ॥

विशेषार्थ--सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए सात भयोंका छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। वे सात भय इस प्रकार हैं—

१ इहलोक-भय—इस लोक-सम्बन्धी परिस्थितियोसे घबड़ाना।

२ परलोक-भय—आगामी भवसे होनेवाले दुःखोसे डरना।

३ वेदना-भय—रोगादिकी वेदनासे भयभीत रहना।

४ मरण-भय—मृत्युसे डरना।

५ अत्राण-भय—अरक्षा या अशरणावस्थामे डरना।

६. अश्लोक-भय--पूजा-प्रतिष्ठा और मान-सम्मान आदिके चले जानेके भयसे डरना।

७ अकस्माद्-भय--अचानक आनेवाली आपत्तियोसे डरना।

इन सातो भयोंके अभाव होनेपर ही सम्यग्दृष्टिका निःशंकित अंग परिपूर्णताको प्राप्त होता है।

अब ग्रन्थकार दूसरी ज्ञानाराधनाकी शुद्धिके लिए उपदेश देते हैं--

कालाद्यध्ययनाचारैरष्टाभिः पावनादिकैः।
ज्ञानाय ज्ञानसंशुद्धिः कार्या कूटादिवर्जनैः ॥ १२१ ॥

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कालाध्ययनादि आठ पावन ज्ञानाचारोके द्वारा छल प्रपञ्चादि कुटिल भावोको छोड़कर ज्ञानकी भले प्रकार शुद्धि करना चाहिए ॥ १२१ ॥

विशेषार्थ--ग्रन्थकारने जिन आठ ज्ञानाचारोंका निर्देश किया है, वे इस प्रकार हैं—१. ग्रन्थाचार, २ अर्थाचार, ३. उभयाचार, ४ कालाचार,

५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ बहुमानाचार और ८. अनिह्नवाचार। इनका खुलासा इस प्रकार है—व्याकरणके अनुसार अक्षर, पद, मात्रादिका शुद्धतापूर्वक पठन-पाठन करना, छन्दशास्त्रके अनुसार विवक्षित पद्यको उसी छन्दके राग (चाल या ढाल) से पढना ग्रन्थाचार है। ग्रन्थके वास्तविक शुद्ध अर्थके निश्चय करनेको अर्थाचार कहते हैं। मूल ग्रन्थ और उसका अर्थ इन दोनोंके शुद्ध पठन-पाठन और अभ्यास करनेको उभयाचार कहते हैं। शास्त्र-अध्ययनके लिए जिस समयको शास्त्रकारोंने अकाल कहा है, उस समयको छोडकर उत्तम योग्य कालमें पठन-पाठन कर ज्ञानके विचार करनेको कालाचार कहते हैं। शुद्ध जलसे हाथ-पाँव धोकर निर्जन्तु, स्वच्छ एवं निरुपद्रव स्थानमे पद्मासनसे बैठकर विनयपूर्वक शास्त्राभ्यास, तत्त्व-चिन्तन आदि करनेको विनयाचार कहते हैं। धारणासहित ज्ञानकी आराधना करनेको उपधानाचार कहते हैं। अर्थात् जो कुछ पढें, उसे भूल न जावें, याद रखें। ज्ञान और ज्ञान-के साधन शास्त्र, पोथी, गुरु आदिका पूर्ण सम्मान करना बहुमानाचार है। जिस गुरुसे या जिस शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त करें उनके नाम न छिपानेको अनिह्नवा-चार कहते हैं। इन आठ अंगोको धारण कर उनका भली-भाँति पालन करते हुए ही सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना चाहिए, तभी वह स्थिर रहता है और यथार्थ फलको देता है ॥ १२१ ॥

अब ग्रन्थकार ज्ञानाराधनाकी शुद्धिका फल और उसका उपाय कहते है—

> **सम्यग्ज्ञान-विशुद्धया स्यात्स्वान्यतत्त्वादिदीपक ।**
> **अवबोधोऽखिलः स्याता पूर्णे सवर-निर्जरे ॥ १२२ ॥**
> **मत्वेति सार-तत्त्वार्थ-पदार्थागम-चिन्तनैः ।**
> **परमेष्ठि-जप-ध्यानैर्ज्ञानशुद्धि करोत्यसौ ॥ १२३ ॥**

सम्यग्ज्ञानकी विशुद्धिसे स्वतत्व और परतत्व आदिके प्रकाश करने—जाननेके लिए दीपकस्वरूप समस्त अवबोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है तथा सवर और निर्जराकी पूर्णता होती है। ऐसा निश्चय कर —जानकर सारभूत तत्त्वार्थ, पदार्थ और आगमके चिन्तन—मननसे तथा परमेष्ठीके जप और ध्यानसे वह क्षपक ज्ञानकी शुद्धि करता है ॥ १२२,१२३ ॥

अब ग्रन्थकार चारित्राराधनाका उपदेश देते हैं –

> **यत्नान्महाव्रतान् गुप्ती· समितीश्चाखिला विदः ।**
> **प्रतिपाल्य प्रकुर्वन्तु विशुद्धि चरणस्य भोः ॥ १२४ ॥**

चारित्रस्य विशुद्धया स्युः सम्यग्ज्ञान-तपांस्यलम् ।
समर्थानि सता कर्तुं संवरं निर्जरां शिवम् ॥ १२५ ॥

विदित्वेति स्वसिद्धयर्थं संन्यासस्थाः शिवार्थिनः ।
चारित्रस्य परां शुद्धिं कुर्वीध्वं निःप्रमादतः ॥ १२६ ॥

भो ज्ञानी क्षपक-जनो ! आप लोग पाँचो महाव्रतो, पाँचो समितियो और तीनो गुप्तियोका विधिवत् पालन करके चारित्रकी विशुद्धिको करे, क्योकि चारित्रकी विशुद्धिसे ही सम्यग्ज्ञान और तपकी आराधना सज्जनोंके अच्छे प्रकारसे कर्मोका संवर और निर्जरा करके मोक्षकी प्राप्ति करानेमे समर्थ होती है। ऐसा जानकर सन्यासमे स्थित सभी शिवार्थी जन स्वसिद्धिके लिए प्रमादरहित होकर अपने चारित्रकी परम विशुद्धिको करे ॥ १२४-१२६ ॥

विशेषार्थ--हिंसा पापका मन वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनासे यावज्जीवनके लिए त्याग करना अहिंसा-महाव्रत है। सर्वप्रकारके असत्य वचनोका त्याग करना सत्य-महाव्रत है। सर्वप्रकारकी चोरीका त्याग करना यहाँ तक कि गिरी-पडी या रखी हुई किसी दूसरेकी वस्तुका स्पर्श तक भी नही करना अचौर्य महाव्रत है। सर्व प्रकारकी स्त्रियोंके सेवनका मन-वचन-कायसे त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। सर्वप्रकारके परिग्रहका त्याग करना और अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नही रखना अपरिग्रह-महाव्रत है। इस प्रकार हिंसादि पाँचो पापोके यावज्जीवन त्याग करनेसे पांच महाव्रतरूप सकल-चारित्र उत्पन्न होता है। इन पाँच महाव्रतोकी रक्षाके लिए पाँच समितियो और तीन गुप्तियोका पालना आवश्यक है। जमीनको देख-शोध कर प्रासुक मार्गपर चलना और रात्रिमे गमन नही करना ईर्या-समिति है। वचनकी सावधानी रखना और हित मित-प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है। दिनमे एक बार निर्दोष आहारके ग्रहण करनेको एषणा-समिति कहते है। ज्ञान, सयम और शौचके उपकरण पुस्तक, पिच्छी और शास्त्रादिको देख भाल कर उठाना और रखना आदाननिक्षेपणसमिति है। निर्जन्तु स्थानपर मल मूत्र क्षेपण करना व्युत्सर्ग-समिति है। इन पाँचो समितियोके परिपालनसे पाँचो महाव्रतोमे निर्मलता और दृढता आती है। मनको वशमे रखना--अपने मनको आर्त्त और रौद्र ध्यानरूप नही होने देना मनोगुप्ति है। वचनको वशमे रखना—मौन धारण करना वचनगुप्ति है। कायको वशमे रखना कायगुप्ति है। इस प्रकार अहिंसादि पाँच महाव्रतो, ईर्यादि पाँच समितियो और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोका पालन करना ही मुनियोका सकल-चारित्र है। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि

चारित्रकी शुद्धि और तपकी आराधनासे संवर और निर्जरा विपुल परिमाणमे होने हैं। योगकी चचलतासे आत्माके भीतर जो प्रतिसमय अनन्त कर्मपरमाणु आते रहते हैं, उनके रोक देनेको सवर कहते हैं। तपोबलसे सचित कर्मोंके दूर करनेको निर्जरा कहते हैं ॥ १२४-१२६ ॥

अब ग्रन्थकार तप-आराधनाकी शुद्धिका उपदेश देते है —

चित्तसंक्लेश-दुर्ध्यान-लेश्याद्यास्रव-रोधनैः।
तपोविशुद्धिमात्मार्थं कुर्वन्तु क्षपकास्तराम् ॥ १२७ ॥

विशुद्धया तपसां बह्वयो जायन्ते विविधर्द्धयः।
नश्यन्त्यसंख्यकर्माणि पञ्चाक्षाणि तपस्विनाम् ॥ १२८॥

तपोभिर्दुःख-रोगान्तस्तपोभि स्वार्थसिद्धय ।
तपोभिस्त्रिजगल्लक्ष्म्यस्तपोभिर्मुक्तिवल्लभा ॥ १२९ ॥

इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फल स्वर्मोक्ष-सिद्धये।
सर्वशक्त्या प्रकुर्वन्तु तपःशुद्धि तपोधनाः ॥ १३० ॥

क्षपक-जन अपने आत्म-कल्याणके लिए चित्त-संक्लेश, दुर्ध्यान और दुर्लेश्या आदि आस्रवके कारणोको रोककर तपकी परमविशुद्धिको करें। क्योकि तपकी विशुद्धिसे तपस्वियोको बहुत-सी, विविध प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं और असख्य कालके संचित अगणित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा पाँचो इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। तपोंसे सर्व-प्रकारके दुखो और रोगोका अंत हो जाता है, तपोसे सभी अभीष्ट अर्थकी सिद्धियाँ होती हैं, तपोंसे तीनो जगतकी लक्ष्मियाँ प्राप्त होती हैं और तपोंसे ही मुक्तिवल्लभा समीप आती है। इस प्रकार तपोका ऐसा प्रकृष्ट फल जानकर तप ही जिनका धन है, ऐसे सन्यासस्थ साधुजन स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिए अपनी सर्वशक्तिसे तपकी शुद्धि करें ॥ १२७-१३० ॥

विशेषार्थ—आर्त्त और रौद्ररूप ध्यानको दुर्ध्यान कहते हैं। इन्द्रियोंके अभीष्ट विपयोकी प्राप्तिके लिए तथा अनिष्ट विपयोकी निवृत्तिके लिए मनमे जो निरन्तर चिन्तन होता है, उसे आर्त्त ध्यान कहते हैं। हिंसादि पच पापरूप और क्रोधादि कपायरूप परिणामोकी प्रवृत्तिको रौद्र ध्यान कहते है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्याको दुर्लेश्या कहते हैं। दुर्लेश्या वाले जीवके परिणाम सदा मलिन, उग्र कषायरूप और विपय-सेवनकी उग्र प्रवृत्तिरूप रहते हैं। आदिपदसे मिथ्यात्व, अविरति और कषायका ग्रहण किया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन

कारणोसे चित्तमे संक्लेश उत्पन्न हो, उन सबका परित्याग करके हे क्षपक ! तू निर्मल भावोंसे तपकी आराधना कर ।। १२७-१३० ।।

अब ग्रन्थकार धर्मध्यानमे निरत रहनेके लिए क्षपकको उपदेश देते है—

धर्मध्यानाय सोऽत्यर्थं ध्यायेदेकाग्र-चेतसा ।
आज्ञाविचयनामादि-धर्मध्यानं चतुर्विधम् ।। १३१ ।।

वह क्षपक धर्मध्यानकी सिद्धिके लिए अत्यत एकाग्रचित्तसे आज्ञा-विचय आदि चारो प्रकारके धर्मध्यानको ध्यावे ।। १३१ ।।

विशेषार्थ—धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय । जिनेन्द्र-कथित तत्त्वोका चिन्तवन करना और जिन-आज्ञाके प्रचारका विचार करना आज्ञाविचय-धर्मध्यान है । उन्मार्ग-पर चलनेवाले प्राणी कैसे सन्मार्गपर चलें, इस प्रकारसे उनके कष्ट दूर करनेके लिए विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है । कर्मोंके नाना प्रकारके फलरूप परिपाकका विचार करना विपाकविचय-धर्मध्यान है और लोकके आकार, स्वभाव आदिके चिन्तवन करनेको सस्थान-विचय धर्मध्यान कहते हैं ।। १३१ ।।

अब परिणाम-विशुद्धिके लिए ग्रन्थकार वैराग्यवर्द्धक भावनाएं भाते रहनेका उपदेश देते है—

वैराग्यं त्रिविध ध्यानी भावयेद् राग-हानये ।
ससार-देह-भोगेषु प्रत्यहं मुक्ति-कारणम् ।। १३२ ।।
वैराग्य-वृद्धये चित्ते सोऽनुप्रेक्षा द्वि-षड्विधाः ।
चिन्तयेत्क्षपको नित्यमनित्याशरणादिकाः ।। १३३ ।।

धर्मध्यान-निरत वह क्षपक ससार, देह और भोगोमे लग रहे राग-भावको दूर करनेके लिए प्रतिदिन मुक्तिके कारणभूत तीन प्रकारके वैराग्यकी भावना करे और वैराग्यकी वृद्धिके लिए वह क्षपक अपने चित्तमे नित्य ही अनित्य-अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करे ।। १३२,१३३ ।।

विशेषार्थ—वैराग्य-भावकी दृढ़ता और समभावरूप सुखकी प्राप्तिके लिए बारह भावनाओका इस प्रकार विचार करे—

१ अनित्य-भावना—संसारके सर्व पदार्थ विनश्वर हैं । उनमें यदि कोई अविनाशी है तो मेरा आत्मस्वरूप ही अविनश्वर है ।

२. अशरण-भावना—संसारमे कोई किसीको शरण देनेवाला नही है, न कोई मृत्युसे बचाने वाला है। यदि कोई दुःखोसे बचाने वाला है तो एकमात्र ज्ञान-दर्शनमय मेरा आत्मा ही मुझे बचा सकता है।

३ संसार-भावना—इस चतुर्गतिरूप संसारमे कही भी रंचमात्र सुख नही है, ऐसा विचार करना संसार-भावना है।

४ एकत्व-भावना—इस ससारमे जीव अपने किये हुए कर्मोके शुभ-अशुभ फलको अकेला ही भोगता है, अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरणको प्राप्त होता है, ऐसा विचार करना एकत्व-भावना है।

५ अन्यत्व-भावना—जब शरीर ही आत्मासे सर्वथा भिन्न है तब पुत्र-मित्र-कलत्र आदि तो कैसे अपने हो सकते हैं, ऐसा विचार करना अन्यत्व-भावना है।

६ अशुचि-भावना—यह देह अत्यन्त अशुचि है, मल-मूत्र, हाड-मास, रक्त आदि घृणित पदार्थोसे भरा हुआ है, इस प्रकारसे शरीरकी अशुचिताका विचार करना अशुचि-भावना है।

७. आस्रव-भावना—मन-वचन-कायकी चचलतासे कर्मोका आस्रव होता है, यह योगकी चंचलता ही सारे दु खोका कारण है, इसलिए मुझे आस्रव रोकनेका प्रयास करना चाहिए, ऐसा विचार करना आस्रव-भावना है।

८ सवर-भावना—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयसे ही कर्मोका आना रुकता है, इसलिए मुझे गुप्ति, समिति आदिको धारण करनेमे सतत जागरूक रहना चाहिए, ऐसा विचार करना सवर-भावना है।

९ निर्जरा-भावना—सचित कर्मोकी निर्जरा तपके द्वारा ही सम्भव है, अतः मुझे तपश्चरण करके कर्मोको दूर करना चाहिए, ऐसा विचार करना निर्जरा-भावना है।

१० लोक-भावना—तीनो लोकोके भीतर ऐसा एक भी प्रदेश नही है, जहाँ पर इस जीवने अनन्तबार जन्म-मरण न किया हो, ऐसा विचार करना लोक-भावना है।

११ बोधिदुर्लभ-भावना—मनुष्य-भव, उत्तम कुल और सम्यग्ज्ञानरूप बोधिकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। वह मुझे पुण्यके उदयसे मिली है, इसलिए मुझे वह व्यर्थ नही खोना चाहिए, ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभ-भावना है।

१२. धर्म-भावना—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्तिसे ही जीव संसार-सागरसे पार होता है, मुझे इस धर्मकी प्राप्ति हुई है, इसलिए उसकी रक्षामें सदा सावधान रहना चाहिए, ऐसा विचार करना धर्म-भावना है॥ १३२-१३३॥

अब ग्रन्थकार क्षपकको जिनवचनामृत-पान करते रहनेका भी उपदेश देते हैं—

आगमार्थ-सुधा-पान क्वचित्करोति संयमी।
जन्म-मृत्यादि-दाह-घ्नं विश्व-शर्माऽऽकरं परम् ॥ १३४ ॥

जब कभी रोगादिकी वेदना शान्त हो और चित्त प्रसन्न हो, तब वह संयमी क्षपक जन्म-जरा-मृत्यु आदि अनादिकालीन रोग-जनित दाहका विनाश करनेवाले और समस्त—अनन्त परमसुखके देनेवाले ऐसे आगमके अर्थ-चिन्तवनरूप सुधाका अर्थात् जिनवचनामृतका पान करे ॥ १३४ ॥

भावार्थ—क्षपकको चित्त-शान्तिके समय जिनोक्त तत्वोंका चिन्तवन करते रहना चाहिए।

अब ग्रन्थकार दश प्रकारके धर्मको धारण करनेका उपदेश देते हैं—

क्षमाद्यैर्दशभिर्धर्मलक्षणैः स्थापयेद्धृदि।
दशलाक्षणिकं धर्मं धर्मी धर्माय मोक्षदम् ॥ १३५ ॥

वह धर्मका आराधक क्षपक धर्मकी प्राप्तिके लिए मोक्षके देनेवाले दशलाक्षणिक धर्मको क्षमादि दश प्रकारके धर्म-लक्षणोंके द्वारा—विषय-कषायोंको दूर करनेके उपायोंसे अपने हृदयमें धारण करे ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—क्रोधादिके निमित्त मिलनेपर क्षपक उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका विचार करे। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

किसी दूसरेके द्वारा मारण-ताडन आदि किये जानेपर चित्तमें कलुषता या विकारभाव नहीं उत्पन्न होने देना क्षमा धर्म है। दूसरेके द्वारा अपना अपमान किये जाने पर भी किसी प्रकारका अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है। मन, वचन और काय इन तीनों योगोंकी कुटिलतारहित सरल परिणति रखना आर्जव-धर्म है। भोग-उपभोगकी वस्तुओंमें लालसा नहीं रखना, यहाँ तक कि जीनेकी भी लालसा नहीं रखना शौच-धर्म है। अपने धर्मका निश्छल पालन करना और व्रत-भंग आदिको गुरुके सम्मुख सचाईसे प्रकट करना सत्यधर्म है। इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन रहना और षट्कायिक जीवोंकी रक्षा करना संयम-धर्म है। अनशन आदि बाह्य तपोंको और स्वाध्याय-ध्यानादि अंतरंग तपोंको अपनी शक्ति न छिपाकर पालन करना तप-धर्म है। बाहरी परिग्रहादिको और अंतरंगके विकारी भावोंका छोड़ना त्याग-धर्म है। अपने शरीर और पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादिसे ममत्वभावका त्यागकर आत्माके एकाकीपनकी भावना

करना आकिञ्चन्य-धर्म है। स्त्री-सम्बन्धी भोगोका त्याग करना, भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करना, राग-वर्द्धक-विकथाओका त्याग करना और शुद्ध आत्म स्वरूपका चिन्तवन करना ब्रह्मचर्य-धर्म है। इन दश प्रकारके धर्मोका चिन्तवन करनेसे क्षपकके परिणामोमे स्थिरता आती है और रत्नत्रय-धर्मकी अभिवृद्धि होती है ॥ १३५ ॥

महाव्रत-विशुद्धयर्थं पञ्चविंशति-भावनाः।
भावयेत्सर्वदा योगी महाव्रत-विशुद्धिदा ॥ १३६ ॥

वह सन्यासस्थ योगी अपने महाव्रतोकी विशुद्धिके लिए महाव्रतोको विशुद्ध करनेवाली पच्चीस भावनाओको सर्वदा ही भाता रहे ॥ १३६ ॥

विशेषार्थ--अहिंसाव्रतकी शुद्धिके लिए क्षपक मनको वशमे रखे, वचनका सयम रखे, गमनागमनकी शुद्धि रखे, ज्ञान और सयम के उपकरणोको सावधानी से उठावे और रखे तथा अपने खान-पानको सूर्यसे प्रकाशित स्थानमे करे। ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

सत्यव्रतकी रक्षाके लिए क्रोधका त्याग करे, लोभका त्याग करे, भयका त्याग करे, हास्यका त्याग करे और आगमानुमोदित हित-मित-प्रिय वचन बोले। ये सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

अचौर्य-व्रतकी स्थिरताके लिए शून्य भवनमे रहे, मालिकके द्वारा छोडे गये मकानमे रहे, उसमे रहनेके लिए आनेवाले दूसरे किसी बन्धुको नही रोके, भिक्षा या गोचरीकी शुद्धि रखे और किसी भी साधर्मी बन्धुसे कलह--विसवाद आदि न करे। ये अचौर्य-व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

ब्रह्मचर्य-व्रतकी विशुद्धिके लिए स्त्रियोकी राग बढाने वाली कथाओको नही सुने, स्त्रियोके मनोहर अङ्गोको नही देखे, पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करे, गरिष्ठ भोजन-पान न करे और अपने शरीरका संस्कार नही करे। ये ब्रह्मचर्य-व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

अपरिग्रह-व्रतकी निर्मलताके लिए पाँचो इन्द्रियोके इष्ट विषयोमे राग-भावका और अनिष्ट विषयोमे द्वेष-भावका त्याग करे। इस प्रकार पाँचो इन्द्रियोके पाँचो विषयोमे राग-द्वेषका त्याग करनेसे इस व्रतकी पाँच भावनाएँ हो जाती हैं ॥ १३६ ॥

तीर्थकृन्नामकर्तॄणि कारणान्येष षोडश।
जिनेन्द्र-गुण-सिद्धयर्थं दृक्-शुद्धयादीनि सस्मरेत् ॥ १३७ ॥

और उस क्षपकको चाहिए कि जिनेन्द्रदेवके गुणोकी सिद्धिके लिए वह सदा ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करानेवाली दृग्विशुद्धि आदि सोलह-कारण-भावनाओका अपने चित्तमे स्मरण करता रहे॥ १३७॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत सोलह-कारण-भावनाएँ और उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ दर्शन-विशुद्धि—पहले बतलाये हुए २५ दोषोसे रहित निर्मल सम्यग्दर्शनका आठो अङ्गोंके साथ धारण करना।

२. विनय-सम्पन्नता—आठ मदोसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपकी तथा इनको धारण करनेवालोकी विनय करना।

३. शील-व्रतानतिचार—अहिंसादि पच व्रतोको तथा दिग्व्रतादि सप्त शीलोको अतिचाररहित निर्दोष पालन करना।

४. अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग—निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना और आत्म-स्वरूपके चिन्तनमे सदा उपयुक्त रहना।

५ अभीक्ष्ण-संवेग—निरन्तर ससारसे भयभीत रहना और शरीर-भोगादिसे विरक्तिकी भावना करना।

६. शक्तितस्त्याग—शक्तिके अनुसार समीपस्थ परपदार्थोंका त्याग करना तथा ज्ञानदान, अभयदान आदि देना।

७ शक्तितस्तप—शक्तिके अनुसार अनशन आदि बाह्य तपोको धारण करना तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरग तपोका पालना।

८ साधु-समाधि—अपने चित्तको सदा समाधानरूप रखना, दूसरेके चित्तका समाधान करना और सकल्प-विकल्प नही करना।

९ वैयावृत्य करना—आचार्य, उपाध्याय, विद्यागुरु, दीक्षागुरु, वयोवृद्ध, रोगी, अपग, असमर्थ साधुजनोकी सेवा टहल आदि करना।

१० अर्हद्भक्ति—जिनेन्द्रदेवकी पूजा-भक्ति करना, उनके गुणोंका चिन्तवन करना, नामोंका स्मरण करना।

११ आचार्य-भक्ति—आचार्यकी आज्ञाका सविनय पालन करना, उनके आनेपर खडे होना, उनके पीछे चलना, उनमे श्रद्धा-भाव रखना।

१२ बहुश्रुत-भक्ति—द्वादशागके पाठी या विशिष्ट ज्ञानी उपाध्याय पर-मेष्ठीकी भक्ति करना, उनसे विनयपूर्वक पढना।

१३ प्रवचन-भक्ति—जिनवाणीकी भक्ति करना, उसका प्रचार करना, उसे बहुमान-पूर्वक हृदयमें धारण करना।

१४ आवश्यकाऽपरिहाणि—अपने पदके अनुसार मुनि या श्रावकके सामायिक, देववन्दनादि छह आवश्यकोको नियत समय पर नियमसे करना,

उनका कभी व्यतिक्रम नही करना। सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये मुनियोके छह आवश्यक हैं। देव-पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये श्रावकके छह आवश्यक हैं।

१५ मार्ग-प्रभावना—संसारमे सन्मार्गका प्रचार करना, जैनधर्मकी प्रभावना करना और अपनी आत्माको रत्नत्रय-तेजसे प्रभावित करना।

१६ प्रवचन-वात्सल्य—प्रकृष्टवचनशाली महापुरुषोमे सहज, स्वाभाविक अनुराग रखना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना और उनके साथ निश्छल व्यवहार करना।

इन सोलह भावनाओका निरन्तर चिन्तवन करनेवाला मनुष्य तीर्थङ्कर नामकर्मका उपार्जन करता है।

मूलाह्वयान् गुणान् सर्वान् सर्वेषा मूलकारणान्।
तपो घोर-तनूत्सर्गादि नानोत्तरसद्गुणान् ॥ १३८ ॥
चतुर्भिरधिकाशीति-लक्षसख्यान् महागुणान्।
अष्टादश-सहस्राणि शीलानि प्रवराणि च ॥ १३९ ॥
आतापनादि-योगादीन्[१] सर्वदा शुभ-भावनाः।
त्रिशुद्ध्या भावयेत्सर्वाः क्षपकस्तद्गुणाप्तये ॥ १४० ॥

और वह क्षपक मुक्तिके मूलकारणभूत तथा सभी उत्तरगुणोंके मूल आधाररूप सभी अर्थात् अट्ठाईस मूलगुणोको, कायोत्सर्गादि घोर तप, नाना प्रकारके सद्गुणोको चौरासी लाख उत्तरगुणोको, सर्वश्रेष्ठ अट्ठारह हजार शीलोको, आतापनादि योगोको और सभी शुभ भावनाओको उन-गुणोकी प्राप्तिके लिए मन-वचन-कायकी शुध्दि-पूर्वक सर्वदा भाता रहे ॥ १३८-१४० ॥

विशेषार्थ—मुनिधर्मके आधारभूत मूलगुण अट्ठाईस होते हैं और उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—हिंसादि पाँच पापोंके त्यागरूप पाँच महाव्रत होते हैं—१ अहिंसा-महाव्रत, २ सत्य-महाव्रत, ३ अचौर्य-महाव्रत, ४ ब्रह्मचर्य-महाव्रत और ५ अपरिग्रह-महाव्रत। पाँच समितियाँ —१ ईर्या समिति, २ भाषा-समिति, ३ एषणा-समिति, ४ आदान-निक्षेपण समिति और ५ व्युत्सर्ग-समिति। पच-इन्द्रिय-निरोध—१ स्पर्शनेन्द्रिय-जय, २. रस-

---

१. अब्भोवगासं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव।
कायकिलेसो एसो सदुण्हादवणादी य ॥ (भगवती आराधना गा० ३२)

रात्रि-जागरण करना, स्नान नही करना, दन्तधावन नही करना, ग्रीष्म कालमे आतापनयोग, वर्षा-कालमे वृक्षमूल-अवस्थान और शीत-कालमे चतुष्पथ-अवस्थान आदि करना कायक्लेश तप है।

नेन्द्रियजय, ३. घ्राणेन्द्रिय-जय, ४. चक्षुरिन्द्रिय-जय और ५ श्रोत्रेन्द्रिय-जय। छह आवश्यक—१. सामायिक, २. वन्दना, ३ स्तुति, ४. प्रतिक्रमण, ५ स्वाध्याय और ६. कायोत्सर्ग। शेष सप्त गुण—१. केशलुचगुण, २. आचेलक्य (नग्नता) गुण ३. अस्नानगुण, ४ भूशयनगुण, ५ स्थिति-भोजनगुण, ६ अदन्तधावन गुण और ७ एक-भक्त गुण। इस प्रकार पच महाव्रत, पच समिति, पच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक और सप्त शेष गुण, ये सब मिलाकर साधुके २८ मूलगुण होते हैं।

मुनियोंके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं। उनका खुलासा इस प्रकार है—१. हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ कुशील, ५. परिग्रह, ६ क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. रति, ११ अरति, १२ भय, १३. जुगुप्सा, १४. मनोदुष्टता, १५. वचनदुष्टता, १६. कायदुष्टता, १७. मिथ्यात्व, १८. प्रमाद, १९. पिशुनत्व, २०. अज्ञान और २१. इन्द्रिय-विषय, इनके निग्रहरूप २१ गुण होते है। इन इक्कीस गुणोका पालन अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचाररहित करनेसे (२१×४=८४) चौरासी गुण हो जाते हैं। इन्हे आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान इन दश शुद्धियोंसे गुणा करनेपर (८४×१०=८४०) आठ सौ चालीस गुण हो जाते हैं। इन्हें पाँचो इन्द्रियोंके निग्रह और एकेन्द्रियादि पाँच प्रकारके जीवोकी रक्षारूप दश प्रकारके संयमसे गुणा करनेपर (८४०×१०=८४००) चौरासी-सौ गुण हो जाते हैं। इन्हें आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी इन आलोचना-सम्बन्धी दश दोषोंके परिहारसे गुणित करनेपर (८४००×१०=८४०००) चौरासी हजार उत्तरगुण हो जाते हैं। इन्हे उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों व पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और संज्ञीपंचेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोकी रक्षा द्वारा गुणित करनेपर (८४०००×१०×१०=८४०००००) चौरासी लाख उत्तरगुण हो जाते हैं।

ग्रन्थकारने जिन अठारह हजार शीलके भेदोकी सूचना की है, उनका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अशुभ मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको शुभ मन-वचन-कायके द्वारा रोकनेसे (३×३=९) नौ भेद होते हैं। इन नौ भेदोको आहार, भय मैथुन और परिग्रहरूप चारो सज्ञाओके परित्यागसे गुणित करनेपर (९×४=३६) छत्तीस भेद हो जाते हैं। इन्हे पाँचो इन्द्रियोके निरोधसे गुणित करनेपर (३६×५=१८०) एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हे पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय

इन दश प्रकारके जीवोकी रक्षाद्वारा गुणित करनेसे (१८०×१० = १८००) अठारह सौ भेद हो जाते हैं। इन्हे उत्तम क्षमादि दश धर्मोसे गुणित करनेपर (१८००×१० = १८०००) अट्ठारह हजार शीलोंके भेद हो जाते हैं। कुछ आचार्योंके मतसे अट्ठारह हजार शीलोके भेद अन्य प्रकारसे भी होते हैं—देवी, मनुष्यनी और तिर्यञ्चनी स्त्रीका मन-वचन-कायसे त्याग करनेपर (३×३ = ९) नौ भेद होते हैं। इन्हें कृत-कारित-अनुमोदनासे गुणित करनेपर (९×३ = २७) सत्ताईस भेद होते हैं। इन्हे पाँचो इन्द्रियोके पाँचो विषयोके त्यागसे गुणा करनेपर (२७×५ = १३५) एक सौ पैंतीस भेद हो जाते हैं। इन्हें द्रव्य और भावसे गुणित करनेपर (१३५×२ = २७०) दो सौ सत्तर भेद हो जाते हैं। इन्हें आहारादि चार सज्ञाओके त्यागसे गुणा करनेपर (२७०×४ = १०८०) एक हजार अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हें अनन्तानुबन्धी-क्रोधादि सोलह कषायो-के त्यागसे गुणित करनेपर (१०८०×१६ = १७२८०) सत्तरह हजार दो सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। ये सब भेद चेतन स्त्री-सम्बन्धी हैं। अचेतन स्त्री काष्ठ, पाषाण और लेपके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। इन तीनोका मन और कायसे त्याग करनेपर (३×२ = ६) छह भेद होते हैं। उनका कृत-कारित-अनुमोदनासे त्याग करनेपर (६×३ = १८) अठारह भेद होते हैं। उन्हे स्पर्श आदि पाँच इन्द्रिय-विषयोंके त्यागसे गुणा करनेपर (१८×५ = ९०) नव्वे भेद होते हैं। उन्हे द्रव्य और भावसे गुणा करनेपर (९०×२ = १८०) एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। उन्हें क्रोधादि चार कषायोके त्यागसे गुणा करनेपर (१८०×४ = ७२०) सात सौ बीस भेद अचेतन स्त्रीके त्याग-सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार चेतन-स्त्री-त्याग-सम्बन्धी १७२८० भेदोमे अचेतन-स्त्री-त्याग-सम्बन्धी ७२० भेदोको मिलानेपर कुल (१७२८० + ७२० = १८०००) अट्ठारह हजार शीलोके भेद हो जाते हैं।

तपके बारह भेद हैं। उनके नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं—

१ अनशन-तप—चारो प्रकारके आहारका त्याग करना।

२. अवमोदर्य-तप—भरपेट भोजन न करना।

३ वृत्तिपरित्याग-तप—भिक्षार्थ जाते समय गली, घर आदिका नियम लेना।

४ रसपरिसंख्यान-तप—शक्तिके अनुसार घी, दुग्ध आदि छहो रस या दो-चार रसोका त्याग करना।

५ विविक्तशय्यासन-तप—एकान्त स्थानमे उठना-बैठना और शयन आदि करना।

६. कायक्लेश-तप—वर्षा ऋतुमे वृक्षके नीचे खडे होना, शीत ऋतुमें चौराहे पर खडे होना और ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतोके शिखरपर खडे होकर शारीरिक कष्ट सहन करना। यही तीनो ऋतुओंके तीन योग हैं। ये छह बहिरंग तप हैं। अन्तरंग तपके भी छह भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

७ प्रायश्चित्त-तप—लगे हुए दोपोकी शुद्धि करना, अपनी आलोचना, निन्दा और गर्हा करना।

८ विनय-तप—अभिमानका त्यागकर रत्नत्रय और उसके धारकोकी विनय करना।

९. वैयावृत्त्य-तप—रोगी मुनि और आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनो की सेवा-टहल करना।

१०. स्वाध्याय-तप—शास्त्राभ्यास करना, तत्त्वोंका चिन्तवन करना, उपदेश देना आदि।

११. व्युत्सर्ग-तप—सर्व परद्रव्योसे ममत्वभावका त्याग करना।

१२ ध्यान-तप—आर्त्त-रौद्र परिणामोका त्याग करके धर्म्य और शुक्ल-ध्यानमें संलग्न रहना।

इसके अतिरिक्त सर्वतोभद्र, रत्नावली, कनकावली आदि १०८व्रतोका आचरण करे। अनित्यादि द्वादश भावनाओका चिन्तवन करे और पाँचो व्रतोकी जो २५ भावनाएँ पहले बतला आये हैं उनका चिन्तवन करे ॥ १३८-१४० ॥

दृढ-संहननतो योगी स्थिर कृत्वा मनोऽनघम्।
ध्यायेच्छुक्लं महाध्यानं क्वचिच्च परमेष्ठिनाम् ॥ १४१ ॥
तत्प्राप्त्यै निर्ममत्वादीनिमान् स भावयेद्धृदि।
कायादौ ममतां त्यक्त्वा निर्ममत्व-सुखाप्तये ॥ १४२ ॥

यदि सन्यासस्थ योगी दृढ़संहननवाला हो, अर्थात् वज्रवृषभनाराचादि तीन उत्तम संहननोका धारक हो, तो वह मनको स्थिर करके निर्मल शुक्ल नामक महाध्यानका चिन्तवन करे और उसके अभावमे क्वचित् कदाचित् पंचपरमेष्ठियोके गुणोका स्मरण करे। इस शुक्ल-ध्यानकी प्राप्तिके लिए तथा निर्ममतारूप निराकुल सुखकी प्राप्तिके लिए वह क्षपक शरीरादिमे ममताको छोडकर निर्ममत्व आदि इन वक्ष्यमाण भावनाओकी हृदयमे इस प्रकार भावे ॥ १४१,१४२ ॥

एकोऽहं सर्वदा नित्यो दर्शन-ज्ञान-लक्षणः।
जन्म-मृत्यु-जरातीतः परद्रव्यातिगो गुणी ॥ १४३ ॥

मत्तो येऽत्रापरे द्रव्य-देहाक्ष-श्री-गृहादयः ।
स्वार्थिनः स्वजनाद्याश्च कर्मजास्तेऽखिला न मे ॥ १४४ ॥

दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग लक्षणवाला मै एक हूँ, सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा-मृत्युसे रहित हूँ, पर-द्रव्योसे भिन्न हूँ, और अनन्त गुणोका भण्डार हूँ। अन्य दूसरे जितने भी द्रव्य, देह, इन्द्रिय, लक्ष्मी और गृहादि अचेतन पदार्थ हैं तथा स्वार्थी स्वजन-परिजन आदि चेतन प्राणी हैं, वे सब कर्म-जनित हैं, मेरेसे सर्वथा भिन्न एवं पर-स्वरूप हैं, वे मेरे कदाचित् भी नही है॥ १४३-१४४ ॥

यः कायोऽचेतनो निन्द्यः क्षण-ध्वंसी दुराश्रयः ।
चैतन्य-ज्ञानरूपस्याव्ययस्य सोऽत्र मे कथम् ॥ १४५ ॥
भिन्न-भिन्नस्वभावा ये स्त्र्याद्या. स्वबन्धवोऽखिलाः ।
स्वकर्मवशतो जातास्ते मदीयाः कुतोऽत्र भोः ॥ १४६ ॥

यह जो शरीर है, वह अचेतन है, निंद्य है, क्षणक्षयी है और दुराश्रय है—कुत्सित मल-मूत्रादिका आश्रय एव दु खोका आधार है, वह चैतन्य-ज्ञानस्वरूप अव्ययी—अविनाशी मेरे आत्माका आधार कैसे हो सकता है ? और हे आत्मन् ! अपने-अपने कर्मोदयसे उत्पन्न हुए, भिन्न भिन्न स्वभाववाले ये जो स्त्री-पुत्रादि हैं तथा समस्त स्वबन्धु-कुटुम्बीजन यहाँ मुझे प्राप्त हुए है, वे मेरे कैसे हो सकते हैं ? इसलिए शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बीजनादिसे तू मोहको छोडकर निर्ममत्व-भावमे रत हो॥ १४५-१४६ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन मनो वाक्काय-खादयः ।
विश्वेऽर्था विधिजा येऽत्र ते वाऽन्ये मे न जातुचित् ॥ १४७ ॥
इत्येवं निर्ममत्वादीन् परद्रव्येषु सन्ततम् ।
भावयेत् स शरीराऽक्षादिषु सद्-ध्यान-सिद्धये ॥ १४८ ॥

हे क्षपक ! इस विषयमे अधिक कहनेसे क्या लाभ है, सर्व कथनका सार यही है कि यहाँ पर शरीरके साथ जो ये मन, वचन और इन्द्रियादि भी तुझे प्राप्त हुए हैं तथा अन्य सर्व पदार्थ जो तुझे मिले है, वे सब कर्म-जनित हैं, तेरे कदाचित् भी नही हो सकते हैं। इस प्रकार हे क्षपक ! हे योगिन् ! तू सद्-ध्यानकी प्राप्तिके लिए इन पर-द्रव्योमे तथा शरीर और इन्द्रियादिकमे सदा निर्ममत्व आदिकी भावना कर ॥ १४७-१४८ ॥

प्रशस्त-ध्यान-लेश्यार्थं ततो नैजात्म्य-भावनाः ।
इमा भाव-विशुद्धचाप्त्यै भावयेद् भव-नाशिनीः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार शरीर, स्त्री-पुत्रादिसे तथा धन-गृहादिसे ममत्व-भावको दूर करनेके पश्चात् वह क्षपक प्रशस्त ध्यान और प्रशस्त लेश्याकी सिद्धिके लिए तथा भाव-विशुद्धिकी प्राप्तिके लिए संसारका मूलोच्छेद करनेवाली इन वक्ष्यमाण नैजात्म्य-भावनाओंको भावे ॥ १४९ ॥

भावार्थ—जो भावनाएँ एकमात्र निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें सहायक होती हैं, पर-पदार्थोंसे और शरीरसे भी मोहको छुड़ाती हैं तथा भव-बन्धन काटती हैं, उन्हें नैजात्म्यभावना कहते हैं ॥ १४९ ॥

सिद्धोऽहं सिद्धरूपोऽहं गुणैः सिद्ध-समो महान् ।
त्रिलोकाग्र-निवासी चारूपोऽसंख्यप्रदेशवान् ॥ १५० ॥

शुद्धोऽहं विशुद्धोऽहं निःकर्माऽहं भवातिगः ।
मनोवाक्काय-दूरोऽहं चात्यक्षोऽहं गत-क्रियः ॥ १५१ ॥

अमूर्त्तो ज्ञानरूपोऽहमनन्त-गुण-तन्मयः ।
अनन्त-दर्शनोऽनन्त-वीर्योऽनन्त-सुखात्मकः ॥ १५२ ॥

अनन्त-ज्ञान-नेत्रोऽहमनन्त-महिमाऽऽश्रयः ।
सर्ववित्सर्वदर्शी चाहमनन्त-चतुष्टयः ॥ १५३ ॥

परमात्मा प्रसिद्धोऽहं बुद्धोऽहं स्वचिदात्मकः ।
परमानन्द-भोक्ताऽहं विगताऽखिल-बन्धनः ॥ १५४ ॥

एकोऽहं निर्ममत्वोऽहमुदासीनोऽहमूर्जितः ।
निर्विकल्पोऽहमात्मज्ञोऽहं दृक्केवल-लोचनः ॥ १५५ ॥

उपयोगमयोऽहं च कल्पनातीत-वैभवः ।
स्वसंवेदन-संज्ञान-गम्योऽहं योग-गोचरः ॥ १५६ ॥

सर्वज्ञः सर्ववेत्ताऽहं सर्वदर्शी सनातनः ।
जन्म-मृत्यु-जरातीतोऽहं सिद्धाष्ट गुणात्मकः ॥ १५७ ॥

त्यक्ताऽष्टकर्म-कायोऽहं जगज्ज्येष्ठोऽहमञ्जसा ।
जिनोऽहं परमार्थेन ध्येयो वन्द्यो महात्मवान् ॥ १५८ ॥

इत्याद्यैः स्व-परात्मोत्थ-भावना-ध्यान चिन्तनैः ।
सर्वत्राध्यात्म-वेत्तासौ स्वात्म-ध्याने लयं व्रजेत् ॥ १५९ ॥

मैं सिद्ध हूं, सिद्धरूप हूं, मैं गुणोसे सिद्धके समान हूं, महान् हूं, त्रिलोकके अग्रभागपर निवास करनेवाला हूँ, अरूप हूँ, असंख्यातप्रदेशी हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं निःकर्मा हूँ, मैं भवातीत हूँ—संसारको पार कर चुका हूँ, मैं मन-वचन-कायसे दूर हूँ, मै अतीन्द्रिय हूँ—इन्द्रियोसे परे हूं, मै क्रिया-रहित—निष्क्रिय हूँ, मैं अमूर्त हूँ, मै ज्ञानरूप हूँ, मैं अनन्तगुणात्मक हूँ, मैं अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखका धारक हूँ, मैं अनन्तज्ञानरूप नेत्रका धारक हूँ, मैं अनन्त महिमाका आश्रय हूँ—आधार हूँ, मै सर्ववित् हूँ, मैं सर्वदर्शी हूँ, मैं अनन्तचतुष्टयका धारक हूँ, मै परमात्मा हूँ, मै प्रसिद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, मै स्वचैतन्यात्मक हूँ मैं परमानन्दका भोक्ता हूँ, मैं सर्व प्रकारके कर्म-बन्धनोसे रहित हूँ, मै एक हूँ—अखण्डरूप हूँ, मैं निर्ममत्वरूप हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं ऊर्जस्वी—तेजस्वी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं आत्मज्ञ हूँ, मैं केवलदर्शन और केवल-ज्ञानरूप दो लोचनो—नेत्रोका धारक हूँ, मै ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगमय हूँ, मैं कल्पनातीत वैभवका धारक हूँ, मैं स्वसंवेदन-गम्य हूँ, मैं सम्य-ग्ज्ञान-गम्य हूँ, मै योग-गोचर हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ, मै सर्ववेत्ता हूँ, मै सर्वदर्शी हूँ, मैं सनातन हूँ, मैं जन्म, जरा और मृत्युसे रहित हूँ, मैं सिद्धोके अष्ट गुणोका धारक हूँ, मै अष्ट कर्मरूप कायसे—कार्मण शरीरसे या सर्व कर्मोसे रहित हूँ, मैं निश्चयत जगज्ज्येष्ठ हूँ, मैं जिन हूँ, परमार्थसे मैं ही स्वयं ध्यान करनेके योग्य हूं, वन्दना करनेके योग्य हूँ और अतिशय माहात्म्यका धारक हूँ,(इस प्रकार अपने उत्कृष्ट आत्मस्वरूपकी भावनारूप निजात्म्यभावनाद्वारा, परमात्माके ध्यानद्वारा और स्वात्म-चिन्तनद्वारा वह अध्यात्मवेत्ता क्षपक सर्वत्र सर्वदा स्वात्म-ध्यानमे लीन रहे)॥ १५०-१५९ ॥

> यादृश सिद्ध-सादृश्यं ध्यायेद् ध्यानी निजात्मकम् ।
> तादृशं कर्म-निर्मुक्त लभेताऽचिरतः शिवे ॥ १६० ॥
> ज्ञात्वेति क्षपकोऽन्यो वा मुक्त्यै परात्मभावनाम् ।
> सर्वत्र सुख-दुःखादौ भावयेन्न त्यजेत्क्वचित् ॥ १६१ ॥

ध्यानी पुरुष जैसे सिद्ध-सदृश निजात्माका ध्यान करता है, वैसे ही कर्म-रहित आत्म-स्वरूपको वह शीघ्र मोक्षमे (जाकर) प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानकर क्षपक एवं अन्य-ज्ञानीजन मुक्ति-प्राप्तिके लिए सर्वत्र सर्वदा सुख-दुःखादिके अवसरपर परम शुद्धरूप आत्म-भावनाको भावे और क्वचित् कदाचित् भी शुद्ध नैजात्म्य-भावनाको नही छोड़े ॥ १६०, १६१ ॥

यतो योग-विशुद्धानामनन्त-कर्म पुद्गलाः ।
प्रणश्यन्ति क्षणार्धेन स्वात्म-ध्यानादि-भावनैः ॥ १६२ ।

हे साधो ! जिन पुरुषोके योगकी विशुद्धता होती है, उनके अनन्त कर्म-पुद्‌गल निजात्माके ध्यान एवं चिन्तवन आदि भावनाओसे आधे क्षणमे नष्ट हो जाते है । (अतएव तुम्हे अपना उपयोग आत्मस्वरूपके चिन्तनमे लगाना चाहिए ।) ॥ १६२ ॥

क्वचित्कर्म-गुरुत्वेनासमाधिर्जायते यदि ।
क्षुधाद्यैः क्षपकस्याशु तदा तद्धानयेऽञ्जसा ॥ १६३ ॥
धर्मध्यान-समाध्यर्थं सूरिर्निर्यापकोऽद्भुतः ।
तस्य सम्बोधनं कुर्याद्धर्मागमोपदेशनैः ॥ १६४ ॥

यदि क्वचित्-कदाचित् कर्म-भारकी गुरुतासे क्षुधा-तृषादिकी बाधाके द्वारा क्षपकके चित्तमे असमाधि (अशान्ति) उत्पन्न हो जाय, तो विचक्षण निर्यापक आचार्य शीघ्र ही उसे दूर करनेके लिए तथा धर्म-ध्यान और समाधि जागृत करनेके लिए धर्मशास्त्रका उपदेश देकर उसे सम्बोधित करे—सावधान करे ॥ १६३,१६४ ॥

अहो क्षपक ! आत्मार्थी सद्वचो मेऽवधारय ।
कुरु कृत्यं निजात्मार्थं दुर्ध्यानं त्यज सर्वथा ॥ १६५ ॥
अनन्ता वेदनाऽनन्तवारानानन्त-संसृतौ ।
भ्रमता या त्वया भुक्ता सा किं ते विस्मृता विधेः ॥१६६॥

अहो क्षपक ! तुम आत्मार्थी हो—आत्म-कल्याणके इच्छुक हो, इसलिये मेरे सद्-वचनोको हृदयमे धारण करो, अपने आत्माका जिसमे हित हो, उस कार्यको करो और यह जो तुम्हे दुर्ध्यान हो रहा है, उसे सर्वथा छोड़ दो । इस अनन्त संसारमे अनन्तकालसे परिभ्रमण करते हुए तुमने अनन्तबार जो कर्म-जनित अनन्त वेदनाएँ भोगी हैं, वे सब क्या तुम्हे विस्मृत हो गई है ? ॥ १६५,१६६ ॥

तप्त-तैल-कटाह-स्थाङ्गिवत्त्वं दुर्गतौ चिरम् ।
दुःख-क्लेशाग्नि-कोटीभिः सन्तप्तः किन्न कर्मभिः ॥ १६७ ॥
सर्वे किन्न त्वया प्राप्ताः क्षुतृषादि-परीषहा ।
मुहुस्तीव्रतरा धीमन् श्वभ्र-तिर्यङ्-नृजातिषु ॥ १६८ ॥
वाऽपरप्राणिनः पश्य भुञ्जानान् दुःखमुल्वणम् ।
पराधीनतया साक्षाद्रोग-क्लेशादि-बन्धनैः ॥ १६९ ॥
यतो व्याधि-शताक्रान्ताः जर्जरा अस्थिपञ्जराः ।
आ-पाद-गल-पर्यन्तं प्रबद्धा शृङ्खलादिभिः ॥ १७० ॥

कुर्वन्तो लङ्घनादींश्च पक्ष-मासादि-गोचरान् ।
दुर्भिक्षेण दरिद्राद्यैः केचित्कदर्थितास्तराम् ॥ १७१ ॥
इत्याद्यैर्वध-बन्धाद्यैराकुलाः पशवो नराः ।
बहवः किन्न दृश्यन्ते प्रत्यक्षेण त्वया मया ॥ १७२ ॥

भो आत्माराधक ! तपाये हुए तेलकी कडाहीमे उबलते हुए प्राणीके समान तुम दुर्गतियोमे चिरकाल तक करोडो दु ख और क्लेशरूप अग्निके समान कर्मोके द्वारा क्या सन्तप्त नही हुए हो ? हे धीमन्, क्या तुमने नरक, तिर्यंच और मनुष्यगतिकी नाना जातियोमे उत्पन्न हो-होकर भूख-प्यास आदिकी तीव्रतर सभी परोषहो और कष्टोको नही प्राप्त किया है ? (फिर आज उन सब कष्टोको क्यो भूल रहे हो ?) और इन दूसरे प्राणियोको साक्षात् देखो, जो रोग-क्लेशादिसे तथा पराधीन वध-बन्धनादिसे पीडित होकर महादु खोको भोग रहे है। (और इन दीन-दरिद्री रोगी मनुष्योको देखो, जो) सैकडो आधिव्याधियोसे आक्रान्त हैं और पैरोसे लेकर गले तक साकल आदिसे खूब जकडे हुए हैं तथा पखवाडे, महीने आदि तक लघन आदि करते हुए दुर्भिक्ष और दरिद्रता आदिसे कितने लोग तत्यन्त पीडित हो रहे हैं। इस प्रकार वध-बन्धनादिसे आकुल-व्याकुल ये पशु और मनुष्य क्या तुम्हे और हमे प्रत्यक्ष नही दिखाई दे रहे है ? ॥ १६७,१६८,१६९,१७ ,१७१ १७२ ॥

पराधीन-सहस्रेभ्यः परा-दुर्गति-कोटिषु ।
संन्यासोत्थमिदं दु.ख कियन्मात्रं विचारय ॥ १७३ ॥

हे साधो ! अति भयानक करोडो महादुर्गतियोमे पराधीन होकर जो सहस्रो दु ख सहे हैं, उनके सामने सन्याससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा वर्तमान दुःख कितना-सा है, जरा इसका तो विचार करो ॥ १७३ ॥

क्षुत्तृषा-संस्तराद्यैस्ते प्रोत्पद्यन्ते यथा यथा।
दुःखादीनि प्रहीयन्तेऽसख्य-दुर्भव-कोटिषु ॥१७४॥
अनेक-दुःख-दातृणि कुकर्माणि तथा तथा।
ततः प्रत्यहमायाति मुक्ति-स्त्री निकट गुणैः ॥१७५॥
विचार्येति विधेहि त्व धीरत्व शिव-साधने।
सन्यासधर्म-सिद्ध्यर्थं कातरत्वं त्यजाऽखिलम् ॥१७६॥

हे यतिवर ! भूख-प्यास और सस्तर आदिके द्वारा जैसे-जैसे तुम्हारे दु ख-क्लेशादि उत्पन्न होते है, वैसे-वैसे ही असंख्य कोटि खोटे भवोमे अनेको दु खोके देनेवाले ये तुम्हारे खोटे कर्म नष्ट होते जाते हैं और

तुम्हारे गुणोसे आकृष्ट होकर मुक्तिरूपी स्त्री प्रतिदिन तुम्हारे निकट आती जाती है। ऐसा विचार कर तुम शिवके साधन करनेके लिए धीरताको धारण करो और संन्यास-धर्मकी सिद्धिके लिए सर्व प्रकारकी कातरता या कायरताको छोडो ॥ १७४-१७५-१७६ ॥

धीरत्वेन यतः शीघ्रं सर्वार्थ-सिद्धयः सताम्।
अत्राऽमुत्र च जायन्ते धर्मार्थ-काम-सच्छिवाः ॥१७७॥
महाघोर-तपांसीव परीषह-भटात्मनाम्।
कषायाऽक्षादि-शत्रूणां धीरत्वेन सदा जयः ॥१७८॥

हे मुनिवर! यतः धीरतासे ही सज्जनोको इस लोक-सम्बन्धी सभी इष्ट अर्थकी सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त होती हैं और परलोकमे भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चारो पुरुषार्थ सिद्ध होते है। अत. महाघोर तपोके समान परीषहरूप सुभटोको तथा आत्माके कषाय और इन्द्रियादि शत्रुओको सदा धीरताके साथ जीतो ॥ १७७,१७८ ॥

कृशाङ्गोऽपि कुरु त्वं द्वौ स्वात्मार्थं सत्त्व-साहसौ।
याभ्यां ते पूर्णतां यान्ति तपः-सन्यास-संयमाः ॥१७९॥

हे क्षपक! यद्यपि तुम अत्यन्त कृश अगवाले हो, तथापि अपने आत्माके हितार्थ अपने भीतर सत्त्व (बल) और साहस इन दोको उत्पन्न करो, क्योकि इन दो गुणोके द्वारा ही तुम्हारा तप, संन्यास और संयम पूर्णताको प्राप्त होगा ॥ १७९ ॥

सर्षपाभेन कष्टेनानशनोत्थेन धीधनैः।
यतो मेरुसम सौख्यं प्राप्यते परजन्मनि ॥१८०॥

समाधिमरणके इस अवसरपर उपवास-जनित सरसोके समान अल्प कष्टसे बुद्धिमान् लोग यतः परजन्ममे मेरुपर्वतके समान महासौख्य-को प्राप्त करते हैं, (अतः तुम्हे धीरताके साथ इसे सहन करना चाहिए) ॥ १८० ॥

अनन्त-दुःख-मृत्याद्याः कृतेनैकेन मृत्युना।
प्रणश्यन्ति सतां नूनं ढौकन्ते त्रिजगच्छ्रियः ॥१८१॥

समाधिपूर्वक की गई इस एक ही मृत्युके द्वारा अनन्त दुःखोको देने वाले जन्म-मरणादिक सर्वदाके लिए प्रणष्ट हो जाते है और तीन जगत्की सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मियाँ सज्जनोको नियमसे आकर स्वय प्राप्त होती हैं। (इसलिए हे भव्योत्तम! तुम आये हुए इन कष्टोको शान्तिपूर्वक सहन करो) ॥ १८१ ॥

समाधिमरणेनाहो सर्वज्ञ-वैभवं सताम् ।
इन्द्राहमिन्द्र-भूत्यो वा महर्द्धिकामर-श्रिय. ॥१८२॥

अहो क्षपक ! समाधिमरणके द्वारा इन्द्र-अहमिद्रकी विभूतियाँ और महर्द्धिक देवोकी लक्ष्मियाँ प्राप्त होती है। (अधिक क्या कहे—) इस समाधिमरणके द्वारा सज्जनोको सर्वज्ञताका परम वैभव भी प्राप्त होता है ॥ १८२ ॥

विशेषार्थ—विधिवत् समाधिमरणकी आराधना करनेवाला क्षपक अपनी ध्यानशुद्धिको उत्तरोत्तर बढाता हुआ जब परम-समाधिमे लीन हो जाता है, उस समय वह घातिया-कर्मोके क्षपणके लिए उद्यत होकर क्षपकश्रेणीपर चढना प्रारम्भ करता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही प्रतिक्षण असख्यातगुणी कर्म-निर्जरा करता हुआ तथा अनन्तगुणी विशुद्धिको बढाता हुआ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानसे नवें अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमे पहुँचता है, वहाँपर सूक्ष्म-लोभको छोडकर चारित्रमोहनीयकी समस्त प्रकृतियोका क्षय कर डालता है और तत्काल ही सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थानमे किंचित्काल रहकर सूक्ष्म लोभका भी क्षय कर परमवीतरागी बनकर यथाख्यातचारित्रका धारक क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानमे वह अन्तर्मुहूर्तकालके भीतर ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी सर्व प्रकृतियोका क्षय करके तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त होता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टयका स्वामी बनकर सर्वज्ञताकी परम विभूतिको प्राप्त हो जाता है। इस समय यदि उस क्षपककी आयु अन्तर्मुहूर्तसे अधिक होती है, तो देवगण तत्काल आकरके उनके ज्ञानकल्याणककी पूजा करते हैं। इन्द्रकी आज्ञासे तत्काल गन्धकुटी बन जाती है और भव्यजीवोका उद्धार करनेवाली उनकी दिव्यध्वनि प्रकट होती है। यदि आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र ही शेष है, तो वे सयोगकेवली भगवान् होकर सर्वज्ञताके वैभवका अनुभव करते और लोकालोकको हस्तामलकवत् साक्षात्कार करते हुए तत्काल योग-निरोधकर चौदहवें गुणस्थानमे पहुँचते हैं और अयोगकेवली अवस्थामे "अ, इ, उ, ऋ, लृ" इन पाँच ह्रस्व अक्षरोके उच्चारणकालप्रमाण कालके भीतर ही अवशिष्ट वेदनीय आयु, नाम और गोत्र कर्मको भी भस्म करते हुए सर्व कर्मबन्धनोसे मुक्त होकर एक क्षणमात्रमे लोक शिखरके अग्रभागमे अवस्थित सिद्ध-लोककी सिद्धशिलापर जा विराजते हैं और सदाके लिए अजर-अमर बन जाते हैं। उसी समय देवगण आकरके उनके निर्वाणोत्सवको मनाकर जगत्मे उनके यशका विस्तार करते हैं।

जो जीव उस परमसमाधिकी अवस्थामे क्षपकश्रेणीपर नही चढ पाते हैं, अथवा यो कहिये कि जिनका संसारमे रहना अभी कुछ बाकी है, वे उस समाधिअवस्थामे उपशमश्रेणीपर चढते है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही आठवें, नवें और दशवें गुणस्थानमे मोहकर्मकी सर्वप्रकृतियोका उपशम करके उपशान्त-मोहवीतरागछद्मस्थ बनकर ग्यारहवें गुणस्थानमे जा पहुँचते हैं और कुछ क्षणके लिए यथाख्यातचारित्रके धारक बनकर परम-आत्मिक-सुखका अनुभव करते है। इस समय यदि उस क्षपककी शारीरिक दशा एकदम कमजोर है और यदि उसके जीवनका अन्त आ गया है या कुछ क्षणके भीतर ही मरण होनेवाला है, तो वह या तो वही मरणको प्राप्त होता है या ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरते हुए दशवें, नवें और आठवेमे भी मरणको प्राप्त हो जाता है। ऐसा जीव नियमसे ग्रैवेयकमे लेकर यथासम्भव सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त विमानोमे उत्पन्न होकर अहमिन्द्र पदको प्राप्त करता है। यदि वह आठवें गुणस्थानसे भी नीचे उतर सातवें आदि गुणस्थानोमे मरणको प्राप्त होता है, तो फिर अपनी तात्कालिक पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याके अनुसार पहले सौधर्म स्वर्गसे लेकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग तकके इन्द्र, सामानिक आदि उत्तम जातिके महान् ऋद्धिवाले देवोमे उत्पन्न होता है। ग्रन्थकारने इतने सर्व अर्थका उपसहार इस एक ही श्लोकमे किया है। जिन्हें इस विषयके जाननेकी और इच्छा हो, उन्हे भगवती आराधनाके अडतीसवें अधिकार की १९१६ गाथासे लेकर उनतालीसवें अधिकारकी १९४३ अंक तककी गाथाओका स्वाध्याय करना चाहिये ॥ १८२ ॥

यथोच्चशिखरेणात्र प्रासादा भान्त्यर्हताम् ।
तथोच्चमृत्युना पुंसां तपो-रत्नत्रयादयः ॥ १८३ ॥

जिस प्रकार ऊँचे शिखरोंसे इस जगतमे जिनेन्द्रदेवके मन्दिर शोभा-यमान होते हैं, उसी प्रकार उत्तम रीतिसे किये समाधिमरणके द्वारा पुरुषोंके तप और रत्नत्रय आदिक शोभायमान होते है। (इसलिए हे क्षपक, तुम्हे भले प्रकारसे समाधिपूर्वक मरण करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए, ॥ १८३ ॥

मन्येऽत्र सफलांस्तेषां तपो-ध्यान-व्रतादिकान् ।
स्वर्मोक्ष-सुखकर्तॄंश्च महामृत्युः कृतोऽत्र यैः ॥ १८४ ॥

जिन पुरुषोंने इस मनुष्य-भवमे महामृत्यु अर्थात् समाधिमरण किया है, मै तो स्वर्ग और मोक्षके देनेवाले उनके ही तप, ध्यान और व्रतादिकको सफल मानता हूँ ॥ १८४ ॥

मरणे कातराणाञ्च विराधिते भवेद् ध्रुवम् ।
देवदुर्गतिरात्मार्थो नश्येद्दीर्घाऽस्ति संसृति ॥ १८५ ॥

जो कायर पुरुष समाधिमरणकी विराधना करते है, उनकी निश्चयसे देवदुर्गति होती है आत्माका अभीष्ट प्रयोजन नष्ट हो जाता है और संसार दीर्घ हो जाता है ॥ १८५ ॥

विशेषार्थ—नीची जातिको देवयोनिके पानेको देवदुर्गति कहते है। यदि समाधिमरण करने वाले क्षपकके मरण समय आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान उत्पन्न हो जाता है और उसने पहले किसी गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध नहो किया है, तो आर्त्तपरिणामोसे मरण करनेवाला तिर्यग्योनिमे और रौद्रपरिणामोसे मरण करनेवाला नरकयोनिमे उत्पन्न होगा। यदि उसने पहलेसे देवायुका बन्ध कर लिया है और मरण-समय उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान उत्पन्न हो गया है, तो वह क्षपक उत्तम जातिके महर्धिक देवोमे उत्पन्न न होकर नीच जाति-के अल्पऋद्धिवाले आभियोग्य, किल्विषिक, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाचादि देवोमे उत्पन्न होगा। वहाँपर उन्हें निरन्तर अपने स्वामी इन्द्रकी आज्ञामे उपस्थित रहना पडता है और उसकी आज्ञाके अनुसार सेना, वाहन, गायन, नर्तक और वाद्यवादक आदिके कार्योंको करना पडता है। ऐसी देव-दुर्गतियोमे उत्पन्न होनेवाले देव सदा ही उच्च देवोके वैभवको देखकर अन्तरङ्गमे विसूरते रहते हैं और मन ही-मनमे भारी अपमान, पराभव आदिसे उत्पन्न होनेवाले सक्लेशका अनुभव करते रहते हैं। इस विषयकी विशेष जानकारोके लिए भगवतीआराधनाके उनतालीसवें अधिकारकी गाथाक १६४४ से १६६२ अक तककी गाथाओंका स्वाध्याय करना चाहिए तथा कैसी भावनाओवाला क्षपक मरकर देवदुर्गतिमे उत्पन्न होता है, इसकी जानकारीके लिए भी भगवतीआरा-धनाकी १८७ से १६० तककी गाथाओका और उनकी संस्कृत-हिन्दी बडी टीकाका स्वाध्याय करना चाहिए ॥ १८५ ॥

अव ग्रन्थकार घोर परीषह और उपसर्गोको जीतकर आत्मकल्याण करनेवाले महामुनियोंके उदाहरण देकर क्षपकको सावधान हो कष्टसहन करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं—

त्रिरात्रानशनेनाहो सर्वार्थसिद्धिमाप्तवान् ।
सुकुमालो महायोगी तिर्यग्घोरोपसर्गजित् ॥ १८६ ॥

अहो भव्योत्तम ! देखो, वह सुकुमाल महायोगी तीन रात्रि तक अन-शनकर और तिर्यक्कृत घोर उपसर्गको जीत कर सर्वार्थसिद्धिका प्राप्त हुए (इनकी कथा प्रारम्भमे दी जा चुकी है ।) ॥ १८६ ॥

संजयन्त-मुनीन्द्रोऽगादन्तकृत्केवली क्षणात् ।
जित्वा मर्त्योपसर्गौघान् द्विपण्डित-मृतेः शिवम् ॥ १८७ ॥

सजयन्त मुनीन्द्र मनुष्यकृत घोर उपसर्गोको जीतकर और अन्तकृत्केवली होकर पंडितपंडितमरणके प्रभावसे एक क्षणमात्रमे शिवको प्राप्त हुए ॥ १८७ ॥

विशेषार्थ—संजयन्त मुनि एक वार किसी पर्वतके ऊपर दिनके समय आतापन योगको धारणकर ध्यानमें अवस्थित थे। उसी समय कोई विद्याधर अपने विमानमे बैठा हुआ आकाश-मार्गसे जा रहा था। जिस समय उसका विमान सजयन्त मुनिके ऊपर आया कि वह वही रुक गया और विद्याधर लाखो प्रयत्न करने पर भी आगेको नही बढ सका। तब वह इसका कारण जाननेके लिये विमानसे नीचे उतरा और विमानके ठीक नीचे उसने संजयन्त मुनिको ध्यानमे अवस्थित देखा, तो उसके क्रोधकी सीमा न रही और उसे यह दृढ विश्वास हो गया कि इसीने मेरे विमानको रोक दिया है। अतः वह उन्हे उठाकर अपने विमानमे ले गया और सोचने लगा कि इसे ऐसे स्थानमें पटक दूँ जहाँकि इसका काम तमाम हो जावे। उसने लेकर भारतवर्षके पूर्वदेशस्थ सिंहवती नदीके उस स्थलपर उन्हे पटका—जहाँपर कि पाँच नदियाँ इधर-उधरसे आकर एक साथ मिलती थी। चूंकि सजयन्त मुनिका जन्म विदेह क्षेत्रमे हुआ था और उनका शरीर ५०० धनुष ऊँचा था और जहाँ इन्हें पटका गया, उस समय भारतवर्षके मनुष्योकी ऊँचाई कवल सात धनुषकी थी। सिंहवती नदीके सगमपर स्नान करनेवाले लोगाने इतने विशाल कायवाले नग्न पुरुषको ऊपरसे गिरता देखा, तो वे भयभीत हो गये और सोचने लगे कि यह विशाल कायवाला कोई महान राक्षस है और हम लागोको खानेके लिए यहाँ आया है, सो उन्होने मिलकर चारो ओरसे उन्हे पत्थरोसे, बडी-बडी लाठियोसे एव नाना प्रकारके दूसरे साधनो—जिसे जो मिला, उसीसे मारना प्रारम्भ किया। मुनिने प्रयोपगमन सन्यास ले लिया था। अत. वे तदवस्थ रहे और लोग तब तक उनपर पाषाणवर्षादि करते रहे, जब तक कि उन्होने उन्हें मरा हुआ नही समझ लिया। सजयन्त मुनि मनुष्योके द्वारा किये गये इस उपसर्गको अत्यन्त शान्त परिणामोसे सहन करते रहे और मरणकी अन्तिम घडीमे केवलज्ञान उत्पन्न कर अन्तःकृत्केवली होते हुए मोक्षको प्राप्त हुए ॥ १८७ ॥

अन्ये धन्यकुमाराद्या बहवो मुनयो ययुः ।
नव-मास-निराहारैः सर्वार्थसिद्धि-सद्गतीः ॥ १८८ ॥

धन्यकुमार आदि अन्य अनेक महामुनि लगातार नौ मास तक निराहार रहकर सर्व अर्थकी सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धिरूप सद्गतिको प्राप्त हुए ॥ १८८ ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकारने जिन धन्यकुमार मुनिका नामोल्लेख इस श्लोकमें किया है, उनकी कथा इस प्रकार है—

एक समय धन्यकुमार भगवान् नेमिनाथके समवशरणमे धर्मोपदेश सुननेके लिए गये, वहांपर उन्होने अपने पूर्वभव पूछे, इस भवकी आयुको और आगामी भवकी गतिको भी जानना चाहा। भगवानकी दिव्यध्वनिसे पूर्व भव जानकर और इस भवकी अवशिष्ट आयु अल्प जानकर उन्हें वैराग्य हो गया और वे भगवानके पास ही दीक्षित हो गये। किन्तु पूर्वजन्मके पापोदयसे नगरो नगरोमे प्रतिदिन गोचरीके लिए जानेपर भी उन्हे आहार-लाभ न हुआ। निदान उन्हे देश-देशान्तरोमे विहार करते और लगातार निराहार रहते हुए नौ मास बीत गये। अन्तिम दिन वे सौरीपुरके निकट यमुनाके किनारे ध्यानमे अवस्थित थे। वहांका राजा शिकार खेलनेके लिए निकला। पर दिनभर वनमे भटकनेपर भी उसे कोई शिकार हाथ नही लगा और हताश होकर वापिस नगरको लौटा। लौटते समय उसकी दृष्टि ध्यानस्थ मुनिके ऊपर पडी। उसने सोचा—इस नगे साधुके प्रात.काल देखनेके अपशकुनसे ही मुझे आज शिकार हाथ नहीं लगा है। इसलिए प्रतिशोधकी भावनासे क्रोधित होकर उसने उनके शरीरको अपने तीक्ष्ण बाणोसे वेध डाला। सैकडो बाणोके एकसाथ प्रहारसे मुनिका शरीर चलनीके समान जर्जरित हो गया, सारे शरीरसे रक्तकी धारा बहने लगी। इस उपसर्गके प्रारभ होते ही धन्यकुमार मुनिने प्रायोपगमन सन्यास अगीकार कर लिया था। इधर राजा बाणोसे बीधकर नगरको लौटा और उधर मुनिराज क्षपकश्रेणीपर आरूढ हुए और एक लघु अन्तर्मुहूर्तमे ही घातियाकर्मोंका नाशकर अन्त.कृत्केवली होते हुए निर्वाण पधारे।

सौरीपुर (बटेश्वर) के पास यमुनाके किनारे, जिस स्थानसे धन्यकुमार मुनिराजने महाउपसर्ग जीतकर निर्वाण प्राप्त किया था, वह स्थान आज भी लोगोके द्वारा पूजा जाता है और इसीसे इस घटनाकी ऐतिहासिक सत्यता प्रमाणित होती है ॥ १८८ ॥

समाधिमरणेनाहो गृहस्था बहवो विदः।
षोडश-स्वर्ग-पर्यन्त यान्ति चेन्द्रपद परे ॥ १८९ ॥

अहो क्षपक! समाधिमरणके द्वारा अनेक ज्ञानी गृहस्थ भी सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त इन्द्र पदको प्राप्त हुए हैं ॥ १८९ ॥

व्याघ्र-सर्पादयः क्रूराः पशवोऽपि व्रजन्ति भोः ।
अच्युतान्ताखिलान् कल्पान् कृताऽनशन-धर्मत. ॥ १९० ॥

भो आराधक ! मरण समय उपवासरूप धर्मके प्रभावसे व्याघ्रसर्पादिक अनेक क्रूर पशु भी अच्युत कल्प तकके स्वर्गोको प्राप्त हुए हैं ॥ १९० ॥

विशेषार्थ—इस श्लोकमे जिन व्याघ्र, सर्प आदि क्रूर पशुओंके उपवास करते हुए समाधिमरण करने और स्वर्गादिकी प्राप्तिका सकेत किया गया है, उनकी सक्षिप्त कथाएं इस प्रकार हैं —

१. भगवान् महावीर स्वामीका जीव नौ भव पूर्व, जब सिहकी पर्यायमे था एक दिन किसी जगलमे एक हरिणको मारकर खा रहा था। भाग्यवश उसी समय आकाश-मार्गसे विहार करते हुए दो चारण मुनि उधरसे निकले, उनकी दृष्टि अचानक उस सिहपर जा पडी और उन्हे अवधिज्ञानसे ज्ञात हुआ कि यह भगवान् ऋषभदेवके पौत्र मरीचिका जीव है और आगे जाकर चौबीसवा तीर्थंकर महावीर होनेवाला है। किन्तु आज हिसक पशुकी पर्यायमे होनेसे निरन्तर दारुण पाप कर रहा है। अतः उसके सम्बोधनार्थ वे उसीके समीप किसी शिलातलपर बैठकर उच्चस्वरसे उस सिहको सम्बोधित करते हुए उसके मरीचिभवको आदि लेकर त्रिपृष्ठनारायण होने और पुन नरकादिमे जाकर सिह होने तककी सभी घटनाओको सुनाने लगे। उनके उच्चस्वरको सुनते-सुनते सिहको पूर्व भवोका जातिस्मरण हो आया और अपनी पूर्व-भवकी तथा आजकी पाप-क्रियाओका स्मरण आते ही उसकी आँखोसे आंसू टपटप गिरने लगे और वह मास खाना भूल गया। दोनो मुनियोने देखा कि हमारे वचनोको सुनकर सिहके भावोमे परिवर्तन हुआ है, तो उन्होने उसे लक्ष्य करके वर्तमान भवमे हिंसारूप महान् पापको छोडनेका उपदेश देना प्रारम्भ किया। सिहपर साधुओकी वाणीका इतना प्रभाव पडा कि वह उनके पास आकर और उन्हें कई प्रदक्षिणाएँ देकर चरणोके समीप बैठ गया। उपयुक्त अवसर देखकर साधुओने उसे पुन सम्बोधा, जिससे उसने अपने नैसर्गिक मासाहारका परित्याग कर दिया। अन्य निर्दोष और अहिंसक शाकाहार या अन्नाहार उसे मिलना सम्भव नही था, फलस्वरूप कितने ही दिनो तक निराहार रहकर उसने समभावोके साथ प्राणोको छोडा और मरकर सौधर्म स्वर्गमे देव उत्पन्न हुआ। आगे जाकर उत्तम मार्गपर चलते हुए वही सिहका जीव भगवान् महावीर बना।

२ भगवान पार्श्वनाथके समयकी बात है, जब कमठका जीव तापसी था और अग्नि जलाकर पञ्चाग्नि तप कर रहा था। भाग्यवश भ० पार्श्वकुमार उधरसे वन-विहार करते हुए आ निकले। उनकी दृष्टि तापसीपर अटकी और उन्होने

अपने अवधिज्ञानसे देखा कि इस जलते हुए काष्ठ-खण्डके भीतर एक सर्प-युगल अग्निकी ज्वालासे दग्ध होता हुआ छटपटा रहा है। उन्होने तापससे यह बात कही। पर उसे विश्वास न हुआ और लडनेको उद्यत हो गया। पार्श्वकुमारने उसे काष्ठखण्ड फाडनेको कहा। तापसने जैसे ही कुठारसे काष्ठको फाडा कि सर्प-युगल उसमेंसे एकदम बाहर निकला। पार्श्वकुमारने उनका अन्तिम समय देखकर उन्हें सम्बोधा और वे समभावके साथ प्राणोको छोडकर धरणेन्द्र और पद्मावती हुए, जिनकी कि कथा जैन पुराणोमें अति प्रसिद्ध है।

३ भगवान महावीरके समयकी घटना है। एक स्थानपर कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे कि एक कुत्ताने आकर उनकी हवन-सामग्रीको उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया। ब्राह्मणोने कुपित होकर कुत्तेको इतना पीटा कि वह मरणासन्न हो गया। देववश उसी समय जीवन्धरकुमार उधरसे आ निकले और उसे मरणासन्न देखकर उन्होने उसे सम्बोधित करते हुए उसके कानोमे अनादि मूलमन्त्र सुनाया। कुत्ता समभावोके साथ मरा और देव हो गया। यह कथा भी उत्तरपुराण आदिमे बहुत प्रसिद्ध है।

इसी तरह सीताके रक्षक जटायु पक्षीने, साधुके रक्षक सूकरने एवं इसी प्रकारके अगणित पशु-पक्षियोने जीवनके अन्तमे समभावोके साथ प्राणोका परित्याग कर देवपद पाया है। तो समाधिमरणके धारक हे क्षपक! तुम अपने जीवनकी इस अन्तिम वेलामे समभावको मत छोडो, साहसको प्रकट करो और शान्तिपूर्वक प्राणोका परित्याग करो, जिससे कि आगे तुम्हें अनन्त ससारमे परिभ्रमण न करना पडे ॥ १६० ॥

मृत्योर्विराधनात्कोपात् कृत-क्लेशतपा अपि ।
द्वीपायन-मुनिर्जातोऽनन्त-ससार-दुःख-भाक् ॥ १९१ ॥
अन्येऽप्यनेकशो जीवाः समाधिमरणच्युताः ।
अनन्त-जन्म-मृत्याप्ता क्लेश-कोटि-शतावहाः ॥ १९२ ॥
ज्ञात्वेति क्षपकात्मार्थं मुक्त्वाऽसमाधिमञ्जसा ।
विधेहि सर्वयत्नेन समाधिमरणं परम् ॥ १९३ ॥

जीवनभर क्लिष्ट (कठिन) तपस्या करनेवाला भी द्वीपायन मुनि क्रोधके द्वारा मृत्युके—समाधिमरणकी विराधना करनेसे संसारके अनन्त दु खोका भोक्ता हुआ। इसी प्रकार अन्य भी अनेको प्राणी समाधिमरणसे च्युत होकर कोटिशत क्लेशोवाले अनन्त जन्मो और मरणोको प्राप्त हुए है। ऐसा जानकर हे क्षपक! आत्म-कल्याणके लिए निश्चयत असमाधिको छोडकर सर्व प्रकारके प्रयत्नसे परम समाधिपूर्वक मरण करो ॥ १९१-१९३ ॥

विशेषार्थ—द्वीपायन मुनिकी कथा इस प्रकार है—श्रीकृष्णके बडे भाई बलदेवजीने भगवान नेमिनाथसे एक बार पूछा—भगवन्! श्रीकृष्णका साम्राज्य कितने दिन तक रहेगा? भगवानने उत्तर दिया—१२ वर्ष। पुनः बलदेवजीने पूछा—भगवन्! फिर द्वारिकाका क्या होगा? उत्तर मिला—द्वीपायन मुनिके निमित्तसे विनाश। भगवन्! किस कारण? उत्तर मिला—मदिरापानसे उन्मत्त हुए यादवकुमारोके उत्पातसे पीडित होनेके कारण। भगवान्‌के मुखसे यह उत्तर सुनते ही द्वीपायन मुनिको, जो महान् तपस्वी थे और उस समय वही बैठे हुए थे, यह जानकर बडा दु:ख हुआ कि हाय, मेरे निमित्तसे द्वारिका और उसमें रहनेवाले लाखो प्राणियोका विनाश होगा। अतः वे इस महापापमय रौद्र कार्यसे बचनेके लिए तत्काल ही वहाँसे पूर्व देशोकी ओर विहार कर गये। इधर श्रीकृष्ण और बलदेवजीने परस्परमे विचार-विमर्श कर नगरीकी सारी मदिराको नगरके बाहर फिकवा दिया और सारी द्वारिकापुरीमे यह घोषणा करा दी कि १२ वर्षमे द्वारिका भस्म हो जायेगी, इसलिए जो संसार-वाससे और इस विनाशसे बचना चाहें, तो वे साधु बनकर आत्म-कल्याण करें और जहाँ जाना चाहें चले जावें। धीरे-धीरे १२ वर्ष पूरे हो गये। इस बीच द्वीपायन मुनि भी नाना देशोंमे विहार करते रहे। जब उन्होने देखा कि १२ वर्ष बीत चुके हैं और द्वारिका विनष्ट नही हुई है, मैं भी उससे दूर हूँ, तो वे मनमे बडे प्रसन्न हुए और उन्होने समझा कि भगवान नेमिनाथके वचन असत्य सिद्ध हुए हैं। पर ऐसा विचार करते हुए वे यह बिलकुल भूल गये, कि इसी वर्ष एक अधिक मास हुआ है, जो सदा ही हर तीसरे वर्ष होता है। अतः वे विहार करते हुए द्वारिका जा पहुँचे और पुरीके बाहर आतापन योग धारण करके ध्यानस्थ हो गये। भाग्यवश शम्भु आदि यादवकुमार उसी दिन वन-विहारको निकले। वनमे घूमते-घूमते उन्हे प्यास लगी, पानीकी उन्होने बहुत खोज की, मगर वह कहीं नही मिला, जहाँ मदिरा फेंकी गई थी—वह सारी भूमि मदिराकी मादकतासे अनुवासित हो गई थी और इधर वर्षा-जल वहां एकत्रित था। उसे देखते ही उन प्यासे यादवकुमारोने उस मदिरा-मिश्रित जलको भर-पेट पी लिया। पुरानी मदिरा अतिमादक होती है, अतः वे लोग क्षणभरमे ही उन्मत्त हो नाना प्रकारकी कुचेष्टाएँ करते और असम्बद्ध प्रलाप करते हुए पुरीको लौट रहे थे, कि मार्गमे ध्यानस्थ द्वीपायन मुनिको देखा, तो उन्हे देखते ही उन यादवकुमारोने उनपर पाषाण फेंकना और गाली देना प्रारम्भ किया। द्वीपायनने अपनेको सम्भालनेका बहुत प्रयत्न किया, पर वे सँभाल नहीं सके और रोषसे उनका सारा शरीर तपने लगा। इधर श्रीकृष्ण और बलदेवने जब यह दुर्घटना सुनी तो वे दौडे हुए आये, मुनिके चरणोमे गिरे, क्षमा-याचना की। मगर उनका

पारा सीमाके बाहर हो चुका था। उन्होने हाथ उठाकर दो अंगुलियाँ दिखाई, जिसका भाव था कि तुम दो ही बचोगे। तत्काल उनके बाएँ कन्धे तैजस पुतला निकला, जिससे क्षणभरमे सारी द्वारिका भस्म हो गई और अन्तमे उसने उन्हें भी भस्म कर दिया ॥ १९१ १९३ ॥

तत्सिद्ध्यै त्यज दुर्ध्यानमार्त-रौद्रमघाकरम् ।
धर्म्य-शुक्लोत्तमं ध्यान ध्याहि समाधि-साधनम् ॥ १९४ ॥
इति तद्बहुधा धर्मोपदेशामृत-पानतः ।
प्रीणितः क्षपको भूत्वा स्वस्थः समाधितत्परः ॥ १९५ ॥
समाधि-ध्यान-सिद्ध्यर्थं भावयेदिति चात्मन ।
अहो यः परमात्माऽत्र ख्यातः साक्षाच्छिवङ्करः ॥ १९६ ॥
स एवाऽहं गुणैर्ज्येष्ठः सिद्धसादृश्य ऊर्जितः ।
नित्योऽनित्यमिदं देह कर्मोत्पन्नं न जातु मे ॥ १९७ ॥
अत एतद्वपुर्निन्द्य यात्वाऽऽशु च्छिन्न-भिन्नताम् ।
यमान्तं वा पृथग्मत्तोऽचेतनं चेतनात्मतः ॥ १९८ ॥
इत्यात्मभेदविज्ञानादिभिर्योगी च योगधृत् ।
सर्वाऽसमाधिमाहत्य-धर्मध्यान-परो भवेत् ॥ १९९ ॥

हे साधो ! उस समाधिमरणकी सिद्धिके लिए पापोके आकर (खानि) आर्त्त और रौद्ररूप दुर्ध्यानको छोडो एव समाधिके साधक उत्तम धर्म और शुक्लध्यानको ध्याओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा दिये उक्त बहुविध धर्मोपदेशरूप अमृतके पानसे प्रसन्न एव स्वस्थ होकर वह क्षपक समाधिमरणमे तत्पर होता हुआ समाधि और ध्यानकी सिद्धिके लिए आत्माकी इस प्रकार भावना करे। अहो आत्मन् ! जिसे इस लोकमे या परमागममे साक्षात् शिवंकर परमात्मा कहा गया है, वही सिद्ध-सदृश गुणज्येष्ठ—अनन्तगुणोका धारक परमतेजस्वी मैं शुद्ध नित्य-निरजन हूँ और यह कर्म-जनित, मल-दूषित देह अनित्य है, वह मेरा कदाचित भी नही हो सकता। अत यह निन्द्य अचेतन शरीर भले ही छिन्न-भिन्न हो या मरणको प्राप्त हो, पर वह मेरे चेतन-स्वरूप आत्मासे तो पृथक् ही है। इस प्रकार आत्मा और देहके भेद-विज्ञानादिरूप भावनाओके द्वारा वह योगका धारक योगी क्षपक सर्वप्रकारकी असमाधिको—चित्तकी व्याकुलता, व्यग्रता एवं संक्लेश परिणतिको—दूर करके धर्म-ध्यानमे तत्पर होवे ॥ १९४-१९९ ॥

अतः प्राणान्त-पर्यन्तं ध्यान कुर्यात्परात्मन. ।
वाऽर्हत्सिद्ध-त्रि-साधूनां हृदि वा जपनं गिरा ॥ २०० ॥

अन्तकालेऽतिनिःशक्त्या देहे पञ्चपदान् यदि ।
अक्षमो जपितु ध्यातुं वा तर्ह्येक-द्विसत्पदान् ॥ २०१ ॥
जपेद्वा त्वेकचित्तेन ध्यायेत्सर्वप्रयत्नतः ।
स्वात्मानं वाऽऽत्मना सिद्धसमध्यात्मचिद्-गुणैः ॥ २०२ ॥

इसके पश्चात् वह क्षपक प्राणोके अन्त होने तक वह अपने परम शुद्ध आत्माका ध्यान करे, अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियोका हृदयमे चिन्तन करे और वाणीसे जपन—अव्यक्त या मन्द स्वरसे नाम-उच्चारण करे अर्थात् पचनमस्कार मत्रका चिन्तन एवं जाप करे। अन्तिम समय यदि देहमे अत्यन्त अशक्ति आ जाय और पंचनमस्कार पदोके जपने या ध्यान करनेमे भी असमर्थ हो जाय, तो 'ॐ', 'सिद्ध' आदि एकाक्षर या द्वयक्षररूप मत्पदोको जपे और एकाग्रचित्त हो सर्व प्रयत्नपूर्वक आध्यात्मिक चैतन्य-गुणोंके द्वारा अपनी आत्माको अपनी आत्मासे सिद्धके समान ध्यावे ॥ २००-२०२ ॥

अन्तावस्था गतस्तस्य निर्यापकजनास्तदा ।
कर्णे पञ्चनमस्कारं जपन्तु यावदाऽऽस्मृति ॥ २०३ ॥
इति ध्यान-समाध्याद्यैर्मुक्त्वा प्राणान् प्रयत्नतः ।
याति सर्वार्थसिद्धि स उत्कृष्टेन महातपाः ॥ २०४ ॥
कश्चित्सन्यासधर्मेण गच्छेद् ग्रैवेयकादिकम् ।
जघन्याराधकः कश्चिद् व्रजेत्कल्पान्तमञ्जसा ॥ २०५ ॥
तत्र भुङ्क्ते महासौख्य सर्वाऽक्षाल्हाद-तृप्तिदम् ।
निरौपम्यं जगत्सार कवि-वाचामगोचरम् ॥ २०६ ॥
सन्यासधर्म-पाकोत्थं दिव्य-स्त्री-क्रीडनोद्भवम् ।
स्वेच्छाया दिव्यरूपोऽसौ महर्द्धिक-सुराग्रिम ॥ २०७ ॥

जब निर्यापक-जन उस क्षपकको अन्त्य-अवस्थाको प्राप्त देखे, तब मृत्यु होनेतक उसके कानमे पचनमस्कार मत्रका जाप करे। इस प्रकार वह महातपस्वी ध्यान और समाधि आदि के द्वारा सर्व प्रयत्नके साथ प्राणोको छोड कर उत्कर्षसे सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है। कोई मध्यम संन्यासधर्मके प्रभावसे नवग्रैवेयकादि विमानोंमे उत्पन्न होता है और कोई जघन्य आराधक नियमसे अच्युत कल्प तकके स्वर्गोके यथायोग्य कल्पोंमे पैदा होता है और वहाँ फिर वह दिव्य रूपका धारक महर्द्धिक उत्तम देव होकर सर्व इन्द्रियोको परम आह्लाद और तृप्ति देनेवाले निरुपम, कवि-वाणीके अगोचर जगतके सारभूत, संन्यास धर्मके परिपाकसे प्राप्त देवा-

गनाओके साथ क्रीडा करनेसे पैदा होनेवाले महान् सौख्यको अपनी इच्छा-नुसार भोगता है ॥ २०३-२०७ ॥

उत्कृष्टाराधना येषा वीतराग-मुनीशिनाम् ।
लब्ध्वा सर्वार्थसिद्ध्यादीन् स्युस्तत्रैकावतारिण. ॥ २०८ ॥
जघन्याराधना येषां भुक्त्वा ते सुगति-द्वये ।
सप्ताष्ट-भव-पर्यन्त सुख याति शिवालयम् ॥ २०९ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन यादृश्याराधना मृतौ ।
तादृश्यो गतयो नृणा जघन्य-मध्यमोत्तमाः ॥ २१० ॥
ज्ञात्वेति यत्नतोऽमुत्र धर्मं सर्वार्थसिद्धये ।
साधयन्तु बुधाः शक्त्या पण्डित मरणोत्तमम् ॥ २११ ॥

जिन वीतराग महामुनियोकी उत्कृष्ट आराधना होती है वे सर्वार्थ-सिद्धि आदि अनुत्तर विमानोको पाकर एकभवावतारी होते हैं। और जिनकी जघन्य आराधना होती है, वे देव और मनुष्य इन दो सुगतियो मे सात-आठ भव तक सुखको भोगकर अन्तमे शिवालय (मोक्ष) को जाते है। (मध्यम आराधनावाले क्षपक यथासम्भव दो-तीन-चार-पाच या छह भवोको धारणकर मोक्षको प्राप्त होते हैं।) इस विषयमे अधिक कहनेसे क्या ? मरणके समय जिन मनुष्योकी जैसी आराधना होती है, वे उसी प्रकारकी जघन्य, मध्यम और उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। ऐसा जानकर बुधजनोको चाहिए कि वे परलोकमे सर्व अर्थकी सिद्धिके लिए उत्तम पण्डितमरणरूप सन्यास धर्मका सर्व यत्नसे अपनी शक्त्य-नुसार साधना करें ॥ २०८-२११ ॥

आराधयन्तु यत्नेन दृगाद्याराधनाः पराः ।
समाधिमृत्यु-सिद्ध्यर्थं त्रि-जगत्सौख्य-मातृका ॥ ११२ ॥

हे भव्यजीवो ! आप लोग समाधिमरणकी सिद्धिके लिए तीन जगत के सर्व सुखोकी जननी सम्यग्दर्शनादि चारो परम-आराधनाओकी सर्व प्रकारके प्रयत्नसे आराधना करे ॥ २१२ ॥

अव ग्रन्थकार ग्रन्थका उपसहार करते हुए भगवती आराधनाकी समाराधनाके लिए गुणीजनोको सम्बोधित करते है—

सम्य(सद्दृ-)ग्ज्ञान-चरित्र-घोरतपसामाराधना दुष्करा,
विश्वाऽशर्म-हरा सुधर्म-जननी मुक्त्यङ्गना-मातृका ।
श्रीतीर्थेश-मुखोद्भवा मुनिवरैः सेव्या गुणानां खनी,
सेवध्वं गुणिनोऽति-यत्न-बहुभिः सन्मृत्यु-संसिद्धये ॥ २१३ ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और घोर तप इन चारोकी आराधना अति दुष्टकर है, यह संसारके सर्व दु खोको हरण करनेवाली है, सुधर्मकी जननी है, मुक्ति-रमाकी साधिका है, गुणोकी खानि है, श्रीतीर्थंकर-भगवानके मुखारविन्दसे प्रकट हुई है और मुनिवरोके द्वारा सेव्य है। ऐसी भगवती परमसुखदायिनी आराधनाका हे गुणिजनो! आप लोग सन्मृत्युकी ससिद्धिके लिए—समाधिमरणकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त एवं वहुत यत्नोके साथ सेवन करे—सावधानीपूर्वक चारो आराधनाओ-की आराधनामे दत्तचित्त होवें। ॥ २१३ ॥

अव ग्रन्थकार स्वयं भी भगवती आराधनाकी प्राप्तिके लिए मंगल-कामना करते है—

असम-गुण-निधानी विश्व-कल्याणमूला,
त्रिभुवन-पति-पूज्या वन्दिता संस्तुता च ।
सुगणि-सकलकीर्त्या यातु सम्पूर्णतां मे,
सुमरण-शिव-सिद्ध्यै तादृगाद्या महत्य ॥ २१४ ॥

यह भगवती परम आराधना अनन्त गुणोकी निधान है, विश्व-कल्याणकी मूल है, तीनो भुवनोके पति—इन्द्र-नरेन्द्र-नागेन्द्रसे पूजित है और सुगणि सकलकीर्त्तिसे भी वन्दित और सस्तुत है अथवा सर्वप्रकृष्ट कीर्त्तिके धारक गणधरादि महामुनियोसे भी पूजित, वन्दित एवं सस्तुत है, वह मेरे समाधिमरण और मोक्षकी सिद्धिके लिए सम्पूर्णताको प्राप्त होवे तथा इस भगवती आराधनाको आदि लेकरके इसी प्रकारकी अन्य जो बडी-वड़ी ऋद्धि-सिद्धिरूप विभूतियाँ है, वे भी मुझे सम्पूर्णरूपसे प्राप्त होवें ॥ २१४ ॥

यैस्तीर्थेशपरैः सतां सुगतये सम्यक् प्रणीताश्च याः,
यासां सेवनतो बभूवुरमलाः सिद्धा अनन्ता हि ये ।
या नित्यं कथयन्ति सूरि सुविदोऽत्राराधयन्ते परे,
तास्ते मे निखिलाः स्तुता सुगतये दद्युर्दृगाद्यान् परान् ॥ २१५ ॥

जिन तीर्थङ्करादि महापुरुषोने सन्त पुरुषोकी सुगतिके लिए जिन आराधनाओका सम्यक् प्रणयन किया—विशद रीतिसे उपदेश दिया, जिनके सेवनसे अनन्तजीव कर्म-मलसे रहित होकर सिद्धपदको प्राप्त हुए हैं, जिनका सूरि और सुविज्ञजन नित्य ही कथन करते है, जिनकी आत्म-हितैषी जन सदा आराधना करते रहते है, ऐसी वे समस्त जगत-स्तुत—विश्ववंद्य भगवती चारों आराधनाएँ तथा उनके आराधक मेरी सुगतिकी

प्राप्तिके लिए दृग्विशुद्धि आदि परम गुणोको देवें। अर्थात् भगवती परम-आराधनाओके प्रसादसे मुझे भी उन्ही चारो आराधनाओकी सम्प्राप्ति होवे ॥ २१५ ॥

हे भगवति आराधने! तेरे चरण-प्रसाद।
अन्त समयमे होय नहि, मेरे दुःख-विषाद ॥ १ ॥

तूने अगणित जनोको, कीना जगसे पार।
मुझको भी अब पारकर, मेरी ओर निहार ॥ २ ॥



हरिश चन्द्र ठोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड, जयपुर-4

परिशिष्ट

१. समाधिमरणोत्साहदीपक-पद्यानुक्रमणिका

२. उपयोगी समाधिमरणपाठ-संग्रह

(क) मृत्यु-महोत्सव

(संस्कृत तथा पं० सदासुखजी कृत हिन्दी-वचनिका)

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे ।
समाधि-बोध-पाथेयं यावन्मुक्ति-पुरीपुरः ॥ १ ॥

अर्थ—मृत्युके मार्गमे प्रवृत्यो जो मैं ताकूं, भगवान वीतराग देव, समाधि कहिए स्वरूपकी सावधानी, अर वोधि कहिये रत्नत्रयका लाभ, सो दीजो। और पाथेय कहिए परलोकके मार्गमे उपकारक वस्तु, सो देहु, जितनेक मैं मुक्ति-पुरी प्रति जाय पहुँचूं।

भावार्थ—मैं अनादि कालसे अनेक कुमरण किये, जिनको सर्वज्ञ वीतराग ही जाने हैं। एकवार हू सम्यक्मरण नही किया, जो सम्यक्मरण करता तो फिर संसारमे मरणका पात्र नही होता। जाते जहाँ देह मरी जाय, अर आत्माका सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्त स्वभाव है सो विषय कषायनि कर नही घात्या जाय, सम्यक्मरण है। अर मिथ्याश्रद्धान रूप हुवा देहका नाशको ही अपना आत्माका नाश जाणता, संक्लेशतें मरण करना, सो कुमरण है। मै मिथ्यादर्शनका प्रभावकरि देहमे ही आपा मान, अपना ज्ञान-दर्शन स्वरूपका घात करि अनन्त परिवर्तन किये, सो अव भगवान वीतरागसूं ऐसी प्रार्थना करूँ हूँ, जो मरणके समय मेरे वेदनामरण तथा आत्मज्ञानरहित मरण मति होऊँ। क्योकि सर्वज्ञ वीतराग जन्म-मरण रहित भये है, ताते मैं हूँ वीतराग सर्वज्ञका शरण-सहित, संक्लेशरहित, धर्मध्यानपूर्वक मरण चाहता, वीतराग ही का शरण ग्रहण करूँ हूँ ॥ १ ॥

॥ अव मै मेरी आत्माको समझाऊँ हूँ ॥

कृमिजाल-शताकीर्णे जर्जरे देह-पंजरे ।
भज्यमाने न भेतव्य यतस्त्व ज्ञान-विग्रहः ॥ २ ॥

अर्थ—भो आत्मन् ! कृमनिके सैंकड़ो जाल करि भरया, अर नित्य जर्जर होता देहरूप पींजरा, इसको नष्ट होते तुम भय मत करो। क्योकि तुम तो ज्ञानशरीर हो ।

भावार्थ—तुम्हारा रूप तो ज्ञानमई है, जिसमे यह सकल पदार्थ उद्योत रूप हो रहे है। अर वह अमूर्तीक, ज्ञान-ज्योतिस्वरूप, अखण्ड, अविनाशी, ज्ञाता, द्रष्टा है। और यह हाड, मास चमडामई महादुर्गन्ध विनाशीक देह है, सो तुम्हारे, रूपते अत्यन्त भिन्न है। कर्मके वशते एक क्षेत्रमे अवगाह करि एकसे होय तिष्ठे हैं, तो भी तुम्हारे, इनके अत्यन्त भेद है। अर यह देह पृथ्वी, जल, अग्नि, पवनके परमाणुनिका पिण्ड है सो अवसर पाय सब बिखर जायेंगे। तुम अविनाशी, अखण्ड, ज्ञायकरूप हो, सो इसके नाश होनेतें भय कैसे करो हो ? ॥ २ ॥

ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुर याति देही देहान्तर-स्थितिः ॥ ३ ॥

अर्थ—भो ज्ञानिन् कहिये हो ज्ञानि आत्मा, तुमको वीतरागी सम्यक्-ज्ञानी उपदेश करे है, जो मृत्युरूप महान् उत्सवको प्राप्त होते काहेको भय करो हो। यो देही कहिये आत्मा, सो अपने स्वरूपमे तिष्ठता अन्य देहमे स्थितिरूप पुरकूं जाय है। यामे भयका हेतू कहा है।

भावार्थ—जैसे कोऊ एक जीर्ण कुटीमेतें निकसि अन्य नवीन महलको प्राप्त होय सो ते बडा उत्सवका अवसर है। तैसे यह आत्मा अपने स्वरूपमे तिष्ठता ही इस जीर्ण देहरूपी कुटीको छोड नवीन देहरूपी महलको प्राप्त होते महा उत्सवका अवसर है। इसमे कोई हानि नही, जो भय किया जाय। अर जो अपने ज्ञायक स्वभावमे तिष्ठते परसे ममत्वरहित हो करके परलोक जावोगे तो बडा आदर-सहित दिव्य, धातु उपधातु-रहित, वैक्रयिक देहमे देव होय अनेक महर्द्धिकनिमे पूज्य महान् देव होवोगे। अर जो यहाँ भयादि कर अपना ज्ञान-स्वभावको विगाड परमे ममत्व धार मरोगे तो एकेन्द्रियादिके देहमे अपना ज्ञानका नाश कर जड रूप होय तिष्ठोगे। अत ऐसे मलीन क्लेश-सहित देहको त्याग क्लेश-रहित उज्ज्वल देहमे जाना तो बडा उत्सवका कारण है॥ ३ ॥

सुदत्त प्राप्यते यस्मात् दृश्यते पूर्व-सत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भव सौख्य मृत्यु-भीतिः कुतः सताम् ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वकालमे भये गणधरादि सत्पुरुष ऐसे दिखावे हैं, कि मृत्युसे भले प्रकार दिया हुवाका फल पाइये हैं। अर स्वर्ग लोकका सुख भोगिए है। इसलिए सत्पुरुषनिको मृत्युका भय क्यो होय।

भावार्थ—अपने कर्त्तव्यका फल तो मृत्यु भए ही पाइये है, जो आप

छ कायके जीवनिको अभयदान दिया, अर राग-द्वेष, काम, क्रोधादिका घातकर, असत्य, अन्याय, कुशील, परधन हरणका त्यागकर, अर सन्तोष धारणकर, अपने आत्माको अभयदान दिया उसका फल स्वर्गलोक विना कहाँ भोगनेमे आवे। सो स्वर्गलोकके सुख तो मृत्यु नाम मित्रके प्रसादते ही पाइये है। ताते मृत्यु समान इस जीवका कोई उपकारक नही। इस मनुष्य पर्यायका जीर्ण देहमे कौन कौन दु ख भोगता, कितने काल रहता और आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करके तिर्यञ्च, नर्कमे जाय पडता। इसलिए अब मरणका भयकरि, अर देह, कुटुम्ब, परिग्रहका ममत्वकरि, चिन्ता-मणी-कल्पवृक्ष समान समाधिमरणको विगाड भयसहित, ममतावान हुवा कुमरण कर, दुर्गति जावना उचित नाही ॥ ४ ॥

आगर्भाद्दुःख-सन्तप्तः प्रक्षिप्तो देह-पंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु-भूमिपतिं विना ॥ ५ ॥

अर्थ—यह हमारा कर्म-शत्रु मेरी आत्माको देहरूपी पीजरेमे क्षेप्या, सो गर्भमे आया तिस क्षणते सदाकाल क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग इत्यादि अनेक दु खनि कर व्याप्त इस देहरूपी पीजरामे रक्खा। उससे मुझे मृत्यु नामा राजा विना कौन छुडावे।

भावार्थ—इस देहरूपी पीजरामे, मैं कर्मरूपी शत्रुद्वारा पटक्या हुआ, इन्द्रियादिके आधीन हुआ, नाना त्रास सहूँ। नित्य ही क्षुधा अर तृषाकी वेदना त्रास देवे है। अर शाश्वती श्वास उच्छ्वास खेचना अर काढना अर नानाप्रकार रोगोका भोगना, अर उदर भरनेके वास्ते अनेक प्रकार पराधीनता सहना, अर सेवा, कृषि, वाणिज्यादि करि महा क्लेशित होय रहना अर शीत उष्णके दु ख सहना, अर दुष्टो द्वारा ताडन, मारन कुवचन, अपमान सहना, कुटुम्बके आधीन रहना, धनके, राज्यके, स्त्री-पुत्रादिकके आधीन, ऐसे महान बन्दीगृह समान देहोसे मरण नामा बलवान राजा बिना कौन निकाले। इस देहको कहाँ ताँई वँहना, जिसको नित्य उठावना, वैठावना, भोजन करावना, जल पावना, स्नान करावना, निद्रा लिवावना, कामादिक विषय साधन करावना, नाना वस्त्र आभूषण कर भूषित करना, रात-दिन इस देह हीका दासपना करता हूँ। आत्माको नाना प्रकार त्रास देवे है, भयभीत करे है, आपा भुलावे है। ऐसे कृतघ्न देहसे निकलना मृत्यु नामा राजा बिना नही होय। जो ज्ञान-सहित, देहसो ममता छाडि, सावधानीते धर्म ध्यानि सहित, संक्लेश रहित, वीतराग पूर्वक, जो समाधिमृत्यु नामा राजाका सहाय ग्रहण करूँ, तो फिर मेरा

आत्मा देह धारण नही करे, दु खोका पात्र नही होय। समाधि-मरण नामा राजा वडा न्यायमार्गी है। मुझे इसीका शरण होहू। मेरे अप-मृत्युका नाश होउ ॥ ५ ॥

सर्व-दु.ख-प्रदं पिण्डं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्यु-मित्र-प्रसादेन, प्राप्यते सुख-सम्पदः ॥ ६ ॥

अर्थ—आत्मदर्शि, जो आत्म-ज्ञानी है, ते मृत्यु नामा मित्रका प्रसाद करि सर्व दु खका देनेवाला देह पिण्डको दूर छाँड कर सुखको सम्पदाको प्राप्त होय हैं।

भावार्थ—आत्म-ज्ञानि समाधिमरणके प्रभावसे, सप्तधातुमई महान अशुचि विनाशीक देहको छोड, दिव्य वैक्रियिक शरीरमे प्राप्त होकर नाना सुख-सम्पदाको प्राप्त होय हैं। समाधिमरण समान इस जीवका उपकार करनेवाला कोई नही है। इस देहमे नाना-प्रकार दु ख भोगते हुवे, महान रोगादि दुःख भोग मरते हुवे, फिर तिर्यञ्च नर्क देहमे असंख्यात, अनन्तकाल ताई असंख्यात दुःख भोगते हुवे और जन्ममरण-रूप अनन्त परिवर्तन करते तहाँ कोई शरण नही है। इस संसार-परि-भ्रमणसे रक्षा करनेको कोई समर्थ नही। कदाचित् अशुभ कर्मका मन्द उदयसे मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रिय-पूर्णता, सत्पुरुषोका समागम तथा भगवान जिनेन्द्रके परमागमका उपदेश पाया है, ता श्रद्धान, ज्ञान, योग, सयम हित, समस्त कुटुम्व, परिग्रहमे ममत्व रहिव, देहसे भिन्न ज्ञान-स्वभावरूप आत्माका अनुभव करके, भय रहित, चार आराधनाका शरण सहिव मरण हो जाय तो इस समान त्रैलोक्यमे इस जीवका कोई हितु नही जो ससार-परिभ्रमणसे छूट जाना सो समाधिमरणनामा मित्रका प्रसाद है ॥ ६ ॥

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥ ७ ॥

अर्थ—जो जीव, मृत्युनामा कल्पवृक्षको प्राप्त होते हुवे अपना कल्याण नही सिद्ध किया, सो जीव संसाररूपी कर्दममे डूबा हुवा पीछे कहा करसी।

भावार्थ—इस मनुष्यजन्ममे मरणका सयोग है सो साक्षात् कल्पवृक्ष है। जो वाञ्छित लेना होय लेहू। जो ज्ञान सहित अपना निज स्वभावको ग्रहणकरि आराधना सहित मरण करो तो स्वर्गका महर्द्धिकपणा, इन्द्रपणा,

अ॰मिन्द्रपणा पाय पीछे, तीर्थंकर तथा चक्री आदि होय निर्वाण पावो। मरण समान त्रैलोक्यमे दाता नही। ऐसे दाताको पायकर विषयकी वाछा अर कषाय सहित ही रहोगे तो विषय-कषायका फल नर्क-निगोद है। मरणनामा कल्पवृक्षको विगाडोगे तो ज्ञानादि अक्षय निधान रहित होकर ससाररूप कदममे डूव जावोगे। भो भव्य हो जो थे वाछाका मारचा हुवा खोटे नीच पुरुषोका सेवन करो हो, अति लोभी भये धन वास्ते विषयभोगोके लिये हिसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रहमे आसक्त भये निद्य कर्म करो हो, तोहू वाछित पूर्ण नही होय है, अर दु खसे मरण करो हो। कुटुम्बादिको छोट विदेशमे परिभ्रमण करो है, निद्य आचरण कर हो। अ॰ निद्य कर्म करके हू अवश्य मरण करो हो। अर जो एक वार हूँ समता धारण कर, त्याग-व्रत-सहित मरण करो तो फिर संसार-परि मणका अभाव कर, अविनाशी सुखको प्राप्त हो जाउ। इस वास्ते ज्ञान-सहित पण्डित-मरण करना उचित है॥ ७॥

जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यत॰।
स मृत्यु॰ किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥ ८॥

अर्थ—जिस मृत्युमे जीर्ण देहादिक सर्व छूट नवीन हो जाय सो मृत्यु सत्पु॰षनिके साताका उदयकी ज्यो हर्षके अर्थ नही होय कहा? अर्थात् ज्ञानीके तो मृत्यु हर्षके अर्थ ही है।

भावार्थ—यह मनुष्यको शरीर नित्य ही समय-समय जीर्ण होय है। देवोके देहकी ज्यो जरा-रहित नही है। दिन-दिन वल घटे है, कान्ति, रूप मलीन होय हैं, स्पर्श कठोर होय है। समस्त नसोके हाडोके वन्धान शिथिल होय हैं। चाम ढीली होय, मासादिको छोड ज्वरली रूप होय है। नेत्रोको उज्ज्वलता विगडे है। कर्णमे श्रवण करनेकी शक्ति घटे है। हस्तपादादिकमे असमथता दिन-दिन वधे है। गमन-शक्ति मन्द होय है। रोग अनेक वधे है। ऐसे जीर्ण देहका दु॰ख कहाँ तक भोगता जिसमे चालते, वैठते स्वास वधे है, कफकी अधिक्यता होय है। ऐसे देहका घीसना कहाँ तक होता? मरण नामा दातारके विना ऐसे निद्य देहक छुडाय नवीन देहमे वास कौन करावे? जीर्ण देहमे वडा असाताका उदय भोगिये है, सो मरणनामा मित्र उपकारी दाता विना ऐसी असाताको कौन दूर करे। इसलिये सम्यक् ज्ञानीके तो मृत्यु होनेका वडा हर्ष है। वह तो संयम, व्रत, त्याग, शीलमे सावधान होय ऐसा उपाय करे

जो फिर ऐसे दुःखका भरचा देहको धारण नही करे। सम्यक्ज्ञानी तो याहीको महा साताका उदय माने हैं ॥ ८ ॥

सुख दु:खं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वय व्रजेन् ।
मृत्यु-भीतिस्तदा कस्य जायते पारमार्थत: ॥ ९ ॥

अर्थ—यह आत्मा देहमे तिष्ठताहू सुखको तथा दु खको सदाकाल जाणे ही है। अर परलोक प्रति हू स्वय गमन करे है। तो परमार्थते मृत्युका भय कौनके होय ।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा है सो तो देहमे तिष्ठता हू मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूं, मरूँ हूँ, मैं क्षुधावान, मै तृषावान, मेरा नाश हुवा, ऐसा माने हैं। अर अन्तर-आतमा सम्यग्दृष्टि ऐसे माने है जो उपज्या है सो मरेगा—पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, पुद्गल परमाणुनिके पिण्ड रूप उपज्यो यह देह सो विनशेगा। मैं ज्ञानमई अमूर्तीक आतमा मेरा नाश कदाचित् नही होय। ये क्षुधा, तृषा, वात-पित्त-कफादि रोगमय वेदना पुद्गलके हैं। मैं इनका ज्ञाता हूं। मैं यामे अहङ्कार वृथा करूँ हूँ। इस शरीरके अर मेरे एक क्षेत्रमे तिष्ठने रूप अवगाह हैं। तथापि मेरा रूप ज्ञाता है, शरीर जड है। मै अमूर्तीक, देह मूर्तीक है। मैं अखण्ड हूँ, शरीर अनेक परमाणओका पिण्ड है। मैं अविनाशी हूँ, देह विनाशीक है। अव इस देहमे जो रोग तथा क्षुधादि उपजे तिसका ज्ञाता ही रहना, क्योकि मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है। परमे ममत्व करना सो ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है। अर जैसे एक मकानको छोड अन्य मकानमे प्रवेश करे, तैसे मेरे शुभ-अशुभ भावनिकरि उपजाया कर्म करि रच्या अन्य देहमे मेरा जाना है इसमे मेरा स्वरूपका नाश नही। अत निश्चयकर विचारिये तो मरणका भय कौनके होय ॥ ९ ॥

ससारासक्त-चित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञान-वैराग्य-वासिनां ॥ १० ॥

अर्थ—ससारमे जिनका चित आसक्त है, अपने रूपको जो जाने नही तिनके मृत्यु होना भयके अर्थि है। अर जो निज स्वरूपके ज्ञाता है अर ससारसे विरागी है तिनके तो मृत्यु हर्षके अर्थि है।

भावार्थ—मिथ्यादर्शनके उदयसे जो आत्मज्ञानकर रहित, देहमे ही आपो माननेवाले, और खाने-पीने काम-भोगादिक इन्द्रियनिके विषयोमे ही सुख माननेवाले, वहिरात्मा है, तिनके तो अपना मरण होना वड़ा

भयके अर्थि है। जो हाय मेरा नाश भया फेर खाना-पीना कहाँ। नही जानिये मेरे पीछे कहा होयगा। अब यह देखना मिलना, कुटुम्बका समागम सब गया। अब कौनका शरण ग्रहण करूँ, कैसे जीऊँ ऐसे मा संक्लेशकर मरे हैं अर जो आत्मज्ञानो है, तिनके मृत्यु आये ऐसा विचार उपजे हैं जो मै देहरूप वन्दीगृहमे पराधीन पडा हुआ, इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहकी दाह करि अर मिले हुए विषयमे अतृप्ताकरि, अर नित्य ही क्षुध, तृषा, शीत, उष्ण, रोगोसे उपजी महावेदनाकरि, एक क्षण हू थिरता नही पाई। महान् दु.ख, पराधीनता, अपमान, घोर वेदना, अनिष्ट-सयोग, इष्ट-वियोग भोगता महाक्लेशसे काल व्यतीत किया। अब ऐसे क्लेशसे छुडाय, अराधीनता रहित अनन्त सुखस्वरूप जन्म-मरण-रहित अविनाशी स्थानको प्राप्त करनेवाला यह मरणका अवसर पाया है। यह मरण महा-सुखका देनेवाला अत्यन्त उपकारक है अर इससे विपरीत संसारवास केवल दु खरूप है। इसमे एक समाधिमरण ही शरण है। और कही ठिकाना नही है। इस विना चारो गतिमे महात्रास भोगी है। अब ससारवाससे अति विरक्त मैं समाधिमरणको ग्रहण करूँ हूँ ॥ १० ॥

पुराधीशो यदा याति सुकृत्यस्य बुभुत्सया।
तदाऽसौ वार्यते केन प्रपञ्चैः पाञ्चभौतिकैः ॥ ११ ॥

अर्थ--जिस कालमे यह आत्मा अपने कियेको भोगनेकी इच्छा कर परलोकको जाय है, तव यह पञ्चभूत सम्बन्धी देहादिक प्रपञ्च क्योकर रोकनेमे समर्थ है।

भावार्थ—इस जीवका वर्तमान आयु पूर्ण हो जाय और जो अन्य लोकसम्बन्धी आयुका यदि उदय आ जाय तव परलोकको गमन करनेको शरीरादि पञ्चभूत कोऊ रोकनेमे समर्थ नही हैं। तातें बहुत उत्साह सहित चार आराधनाका शरण गहणकर मरण करना श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

मृत्यु-काले सतां दु.ख यद्भवेद् व्याधि-सम्भवम्।
देह-मोह-विनाशाय मन्ये शिव-सुखाय च ॥ १२ ॥

अर्थ—मृत्युका अवसर विषें जो पूर्व कर्मके उदयसे रोगादि व्याधि-कर दु ख उत्पन्न होय सो सत्पुरुषोके शरीरसे मोहके नाशके अर्थि है अर निर्वाणके सुखके लिये है।

भावार्थ—यह जीव जन्म लिया जिस दिनसे देहसो तन्मय हुवा यामे वसे हैं। अर यामे वसनेको ही बडा सुख माने है। याको अपना निवास जाने है। इस ही से ममता लग रही है। इसमे वसने सिवाय अपना कही

ठिकाना नही देखे हैं। अव ऐसा देहमे जो रोगादि दु ख उपजे हैं तब सत्पुरुषोंके इनसे मोह नष्ट हो जाय है। अर साक्षात् दु खदायी, अथिर विनाशीक दीखे हैं। अर देहका कृतघ्नपणा प्रकट दीखे हैं। तव अविनाशी पदके अर्थ उद्यमी होय है, वीतरागता प्रकट होय है। उस समय ऐसा विचार उपजे है जो इस देहकी ममताकर मै अनन्तकाल जन्म-मरण कर अनेक वियोग, रोग, सन्तापादिसे नर्कादि गतियोमे दु ख भोगे। अर अव भी ऐसा दु खदायी देहमे ही ममत्वकर आत्माको मूल एकेन्द्रियादि अनेक कुयोनिमे भ्रमणका कारण कर्म उपार्जन करनेको उद्यम करू हू, सो अब इस शरीरमे ज्वर, खास, स्वास, शूल, वात, पित्त अतीसार, मदाग्नि, इत्यादि रोग उपजे हैं, सो इस देहमे ममता घटावने अर्थ बडा उपकार करे है, धर्ममे सावधान करे हैं। जो रोगादि नही उपजता तो मेरी ममताहू नही घटती, अर मद भी नही घटता। मैं तो मोहको अन्धेरीकर आन्धा हुवा, देहको अजर-अमर मान रहा था, सो रोगोने मुझे सचेत कराया। अब इस देहको अशरण जान, ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप ही को एक निश्चय शरण जान आराधनाका धारक भगवान परमेष्ठीको चित्तमे धारण करू हूँ। अब इस वक्त हमारे एक जिनेन्द्रका वचनरूप अमृत ही परम औषध होहू। जिनेन्द्र वचनामृत विना विषय-कषायरूप रोगजनित दाहको मेटनेको कोऊ समर्थ नही। बाह्य औषधि तो असाता कर्मके मन्द होते किंचित्काल कोई एक रोगको उपशम करे है। अर यह देह रोगोसे भरया हुवा हैं, सो कदाचित् एक रोग मिटचा तौहू अन्य रोगजनित घोर वेदना भोग फिर मरण करना पडेगा। इसलिये जन्म-जरा-मरण रूप रोगको हरनेवाले भगवानका उपदेशरूप अमृत ही पान करूँ हूँ। अर औषधादि हजारा उपाय करते भी विनाशीक देहमे रोग नही मिटेगा, इसलिये रागसे आर्ति उपजाय कुगतिका कारण दुर्ध्यान करना उचित नाही। रोग आवतेहू बडा हर्ष ही मानो, जो रोगहीके प्रभावते ऐसा जीर्ण गल्या हुआ देहसे मेरा छूटना होयगा। रोग नही आवे तो पूर्वकृत कर्म नही निर्जरे। अर देहरूप महादुर्गन्ध बन्दीगृहमे मेरा शीघ्र छूटना ही नही होय। अर यह रोगरूप मित्रको सहाय ज्यो-ज्यो देहपे वधे है त्यो-त्यो मेरा रोग बन्धनसे, कर्मबन्धनसे अर शरीरबन्धनसे छूटना शीघ्र होय है। अर यह रोग तो देहमे है सो इस देहको नष्ट करेगा। मैं तो अमूर्तीक चैतन्य-स्वभाव अविनाशी हूँ ज्ञाता हूं। अर जो यह रोग-जनित दु ख मेरे आवे जाननेमे है सो मैं तो जानने वाला ही हूँ। याको लार मेरा नाश नही है। जैसे लोहकी सगति

से अग्नि हूँ घन्नोकी घात सहे है, तैसे शरीरकी संगतिसे वेदनाका जानना मेरे हूँ है। अग्निसे झोपडी जले है, झोपडीके माही आकाश नही जले है। तैसे अविनाशी अमूर्त्त चैतन्य धातुमई मैं आत्मा ताका रोगरूप अग्निकर नाश नही है। अर अपना उपजाया कर्म आपको भोगना ही पडेगा। कायर होय भोगूगा, तो कर्म नही छोडेगा। अर धीरज धारण कर भोगूंगा, तो कर्म छोडेगा। तातें कायरताको धिक्कार होहू, कर्मका नाश करनेवाला धैर्य ही धारण करना श्रेष्ठ है। अर हे आत्मन्, तुम रोग आये इतने कायर होते हो, सो विचार करो, नरकोंमे इस जीवने कौन-कौन त्रास भोगी, असंख्यातवार, अनन्तवार मारे, विदारे, चीरे-फारे गये हो, यहां तो तुम्हारे कहा दु ख है। अर तिर्यंच गतिके घोर दु ख भगवान ज्ञानी हूँ वचन द्वारा कहनेको समर्थ नही। अनन्तवार अग्निमे जलि मरचा हूँ, अनन्तवार जलमे डूब-डूब मरचा हूँ, अनन्तवार विषभक्षणकर मरचा हूँ, अनन्तवार सिह, व्याघ्र, सर्पादिक करि विदारचा हूँ, शस्त्रोकर छेद्या गया हूँ, अनन्तवार शीत वेदनाकर मरचा हूँ, अनन्तवार उष्णवेदना कर मरचा हूँ, अनन्तवार क्षुधाकी वेदनाकर मरचा हूँ, अनन्तवार तृषावेदनाकर मरचा हूँ। अव यह रोगजनित वेदना कितनीक हैं। रोग ही मेरा उपकार करे है। रोग नही उपजता तो देहसे मेरा स्नेह नही घटता, अर समस्तसे छूट परमात्माका शरण नही ग्रहण करता। ताते इस अवसरमे जो रोग है, सोहू मेरा आराधनामरणमे प्रेरणा करनेवाला मित्र है। ऐसा विचारता ज्ञानी रोग आये क्लेश नही करे है। मोहका नाश होनेका उत्सव ही माने है ॥ १२ ॥

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा ॥ १३ ॥

अर्थ—यद्यपि इस लोकमे मृत्यु है सो जगतको आताप करनेवाला है तोहू सम्यग्ज्ञानीके अमृतसग जो निर्वाण ताके अर्थ है। जैसे कच्चा घडा अग्निमे पकवाना है सो अमृतरूप जलके धारणके अर्थि है। जो काचा घडा अग्निमे एक वार पक जाय तो वहुत काल जलका ससर्गको प्राप्त होय। तैसे मृत्युका अवसरमे आताप समभावकर एक वार सह जाय तो निर्वाणका पात्र हो जाय।

भावार्थ—अज्ञानीके मृत्युका नामसे ही परिणाममे आताप उपजे है। जो मैं चल्या, अव कैसे जीऊं, कहा करूँ, कौन रक्षा करे, ऐसे सन्तापको

प्राप्त होय है। क्योंकि अज्ञानी तो वहिरात्मा है, देहादि बाह्य वस्तुको ही आत्मा माने है अर ज्ञानी जो सम्यग्दृष्टि है, सो ऐसा माने है जो आयुकर्मादिका निमित्तते देहका धारण है, सो अपनी स्थिति पूर्ण भये अवश्य विनशेगा। मैं आत्मा अविनाशी ज्ञानस्वभाव हूँ। जीर्ण देहको छोडि नवीनमे प्रवेश करते मेरा कुछ विनाश नही है ॥ १२ ॥

यत्फलं प्राप्यते सद्भिः व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुख-साध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥ १४ ॥

अर्थ—सत्पुरुष व्रतोके वडे खेदका प्राप्तकर जिस फलको प्राप्त होय हैं सो फल मृत्युका अवसरमे थोडे काल शुभध्यानरूप समाधिमरणकर सुखसे साधने योग्य होय है।

भावार्थ—जो स्वर्गोमे इन्द्रादि पदवी, परम्पराय निर्वाणपद, पंचमहाव्रतादि घोर तपस्याकर सिद्धि करिये है सो पद मृत्युका अवसरमे देह, कुटुम्बादि परिग्रहसूँ ममता छाँडि भयरहित हुआ, वीतरागता सहित, चार आराधनाका शरण ग्रहणकर, कायरता छाँडि, अपने ज्ञायक स्वभावको अवलम्बनकर, मरण करे तो सहज सिद्ध होय है। तथा स्वर्ग-लोकमे महर्द्धिक देव होय। तहाँसे आय वडा कुलमे उपजि उत्तम संहननादि सामग्री पाय दीक्षा धारणकर अपने रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होय निर्वाण जाय है ॥ १४ ॥

अनार्त्तः शान्तिमान्मर्त्यो न तिर्यग्नापि नारकः ।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः ॥ १५ ॥

अर्थ—जाके मरणका अवसरमे आर्त्त जो दुःखरूप परिणाम न होय अर शान्तिमान कहिये राग-द्वेषरहित समभावरूप चित्त होय, सो पुरुष मरण करि नारकी नही होय, तिर्यञ्च नही होय। अर जो धर्मध्यान-सहित, अनशनव्रत धारण करके मरे तो स्वर्गलोकमे इन्द्र होय तथा महर्द्धिक देव होय, अन्य पर्याय नही पावे, ऐसा नियम है।

भावार्थ—यह उत्तम मरणके अवसरको पाय करके आराधना सहित मरणमे यत्न करो। अर मरण आवते भयभीत होय, परिग्रहमे ममत्व-धार, आर्तपरिणामसू मरि कुगतिमे मत जावो। यह अवसर अनन्त भवोमे नही मिलेगा। और यह मरण छोडेगा नही तातें सावधान होय धर्मध्यान-सहित धैर्य धारणकर देहका त्याग करो ॥ १५ ॥

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥ १६ ॥

अर्थ—तपका संताप भोगना, व्रतका पालना, श्रुतका अभ्यास करना यह सम्पूर्ण आत्माकी सावधानी सहित मरण करने अर्थ है।

भावार्थ—हे आत्मन् जो तुमने इतने कालतक इन्द्रियोंके विषयोंमे वांछा रहित होय अनशनादि तप किया है, सो अन्तकालमे आहारादिकका त्याग सहित, संयम सहित, देहकी ममता रहित, समाधिमरणके अर्थ किया है। अर जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्यागादि व्रत धारण किये हैं, सो भी समस्त देहादिक परिग्रहमे ममताका त्यागकर, समस्त शत्रु-मित्रमे वैर, राग छाँडि कर, उपसर्गमे धैर्यता धारणकर अपना एक ज्ञान-स्वभावको अवलम्बनकर, समाधिमरणके अर्थ ही किये हैं। अर जो समस्त श्रुतज्ञानका पठन किया है सोहू क्लेश-रहित, धर्मध्यान-सहित देहादिकसे भिन्न आपको जान, भय-रहित समाधिमरणके निमित्त ही विद्याकी आराधनाकर काल व्यतीत किया है। अर अब मरणका अवसरमे हूं ममता, भय, राग-द्वेष, कायरता, दीनता नही छोडूंगा तो इतने काल तप कीने, व्रत पाले, श्रुतका अध्ययन किया सो समस्त निरर्थक होय। तातें इस मरणके अवसरमे कदाचित् सावधानी मत विगाडो ॥ १६ ॥

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः।
चिरतर-शरीर-नाशे नवतर-लाभे च किं भीरुः ॥ १७ ॥

अर्थ—लोकनिका ऐसा कहना है कि जिस वस्तुसूं अतिपरिचय, अति सेवन हो जाय तिसमे अवज्ञा, अनादर हो जाय है, रुचि घट जाय है, अर नवीन संगममे प्रीति होय है, यह बात प्रसिद्ध है। अर हे जीव तू इस शरीरको चिरकालसे सेवन किया, अब याका नाश होते, अर नवीन शरीरका लाभ होते भय कैसे करो हो। भय करना उचित नाही।

भावार्थ—जिस शरीर को बहुत काल भोग जीर्ण कर दिया अर सार-रहित, वल-रहित होय गया। अब नवीन उज्ज्वल देह धारण करनेका अवसर पाया, तब भय कैसे करो हो। यह जीर्ण देह तो विनसेहीगो। इसमे ममता धारि मरण विगाड दुर्गतिका कारण कर्मबन्ध मत करो ॥ १७ ॥

स्वर्गादेत्य पवित्र-निर्मल-कुले संस्मर्यमाणा जनैः।
दत्वा भक्ति-विधायिनां बहुविधं वांछानुरूपं धनं (फलं)।
भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृतं स्थित्वा क्षणं मण्डले।
पात्रावेशविसर्जनामिव मृतिं सन्तो लभन्ते स्वतः ॥ १८ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो भय-रहित होय, समाधिमरणमें उत्साह-सहित चार आराधनाको आराधि मरण करे है, उसकी स्वर्गलोक विना अन्य गति नही होय है। स्वर्गमे भी महर्द्धिक देव ही होय है, ऐसा निश्चय है। वहुरि स्वर्गमे आयुका अन्तपर्यन्त महासुख भोग करके इस मध्यलोक विषे पुण्यरूप निर्मल कुलमे अनेक लोक द्वारा चितवन करते करते जन्म लेय, अपने सेवक-जन तथा कुटुम्ब, परिवार, मित्रादिकको नाना प्रकारके वाछित धन, भोगादिरूप फल देय, अपने पुण्यकरि उपजे भोगोको निरन्तर भोग, आयुप्रमाण थोडे काल पृथ्वीमण्डलमे संयमादिसहित, वीतराग रूप भए, जिस प्रकार नृत्यके अखाडेमे नृत्य करनेवाला पुरुष लोगोको आनन्द उपजाय जाय है तैसे स्वयमेव देह त्याग निर्वाणको प्राप्त होय है ॥ १८ ॥

दोहा—मृत्यु-महोत्सव-वचनिका, लिखी सदासुख-काम।
शुभ आराधन मरण करि, पाऊं निज-सुख-धाम ॥ १ ॥
उगणीसे[19] ठारा[18] शुकल, पचमि मास असाढ़।
पूरण लखि वांचो सदा, मन धरि सम्यक् गाढ़ ॥ २ ॥



पण्डित द्यानतरायजी कृत

२. (ख) समाधि-मरण भाषा

(जोगीरासा व नरेन्द्र छन्द)

गौतम स्वामी वन्दौं नामी, मरण-समाधि भला है।
मैं कब ताऊँ निश-दिन ध्याऊँ, गाऊँ वचन-कला है।।
देव-धर्म-गुरु प्रीति महादृढ, सात व्यसन नहीं जाने।
तजि बाईस अभक्ष संयमी, बारह व्रत नित ठाने।। १ ।।

चक्की उखरी चूलि बुहारी, पानी, त्रस न विराधैं।
वनिज करे, पर द्रव्य हरे नहिं, छहों करनी इमि साधैं।।
पूजा शास्त्र, गुरुनकी सेवा, सयम, तप, चउदानी।
पर-उपकारी अल्प-अहारी, सामायिक-विधि ज्ञानी।। २ ।।

जाप जपैं तिहुं योग धरैं दृढ, तनकी ममता टारैं।
अन्त समय वैराग्य सम्हारैं, ध्यान समाधि विचारैं।।
आग लगे अरु नाव डुबै जब, धर्म विघन जब आवैं।
चार प्रकार अहार त्यागिके मन्त्र सु-मनमे ध्यावैं।। ३ ।।

रोग असाध्य जहाँ बहु देखैं, कारण और निहारैं।
बात बड़ी है जो बन आवैं, भार भवनको डारैं।।
जो न बनैं तो घरमे रह करि, सबसो होय निराला।
मात-पिता-सुत-तियको सौंपै, निज परिग्रह अहि-काला।। ४ ।।

कछु चैत्यालय, कछु श्रावक-जन, कछु दुखिया धन देई।
'क्षमा-क्षमा' सबहीसो कहिके, मनकी शल्य हनेई।।
शत्रुनसो मिलि निज कर जोरैं, मै बहु करि है बुराई।
तुमसे प्रीतमको दुख दीने, ते सब बकसो भाई।। ५ ।।

धन धरती जो मुखसो मांगैं, सो सब ही सतोषैं।
छहो कायके प्राणी ऊपर, करुणा-भाव विशेषैं।।
ऊँच-नीच घर बैठ जगह इक, कछु भोजन कछु पैले।
दूधाहारी क्रम-क्रम तजिकैं, छाँच अहार पहेलै।। ६ ।।

छाँछ त्यागिके पानी राखै, पानी तजि संथारा ।
भूमि माहि थिर आसन मांड़ै, साधर्मी ढिग प्यारा ॥
जब तुम जानो यह न जपै है, तब जिनवानी पढ़िये ।
यो कहि मौन लियौ सन्यासी, पञ्च परम-पद गहिये ॥ ७ ॥

चौ आराधन मनमे ध्यावै, बारह भावन भावै ।
दश-लक्षण उर धर्म विचारै, रत्नत्रय मन ल्यावै ॥
पैंतीस सोलह षट् पन चौ दुइ, एक वरन विचारै ।
काया तेरी दुखकी ढेरी, ज्ञानमयी तू सारै ॥ ८ ॥

अजर अमर निज गुणसो पूरै, परमानन्द सुभावै ।
आनन्दकन्द चिदानन्द साहब, तीन-जगत-पति ध्यावै ॥
क्षुधा-तृषादिक होई परीषह, सहै भाव सम राखै ।
अतीचार पाँचो सब त्यागै, ज्ञान-सुधा-रस चाखै ॥ ९ ॥

हाड मास सब सूखि जाय जब, धरम लीन तन त्यागै ।
अद्‌भुत पुण्य उपाय सुरगमैं, सेज उठे ज्यो जागै ॥
तहँ तैं आवै शिव-पद पावै, विलसै सुक्ख अनन्तो ।
'द्यानत' यह गति होय हमारी, जैनधरम जैवन्तो ॥ १० ॥

——

पण्डित सूरचन्दजी कृत

२. (ग) समाधि-मरण भाषा

(नरेन्द्र छन्द)

वन्दौं श्री अहरन्त परम गुरु, जो सबको सुखदाई ।
इस जगमे दुख जो मै भुगते, सो तुम जानो राई ॥
अब मै अरज करौं प्रभु तुमसे, कर समाधि उर मांहीं ।
अन्त समयमे यह वर मांगूं, सो दीजे जगराई ॥ १ ॥

भव-भवमे तन धार नये मै, भव-भव शुभ संग पायो ।
भव-भवमे नृप-ऋद्धि लई मै, मात पिता सुत थायो ॥
भव-भवमे तन पुरुषतनो धर, नारी हू तन लीनो ।
भव-भवमे मै नपुसक हूवो, आतम-गुण नहिं चीनो ॥ २ ॥

भव-भवमे सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे ।
भव-भवमे गति नरक-तनी धर, दुख पायो विध-योगे ॥
भव-भवमे तिर्यञ्च योनि धर, पाये दुख अति भारी ।
भव-भवमे साधर्मी जनको, सग मिलो हितकारी ॥ ३ ॥

भव-भवमे जिन-पूजन कीनी, दान सुपात्रहि दीनो ।
भव-भवमे समवशरण मै, देख्यो जिन-गुण भीनो ॥
एती वस्तु मिली भव-भवमे, सम्यक् गुण नहिं पायो ।
ना समाधि-युत मरण कियो मै, ताते जग भरमायो ॥ ४ ॥

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहि कीनो ।
एकवार हू सम्यक् युत मै, निज आतम नहिं चीनो ॥
जो निज-परको ज्ञान होय तो, मरण समय दुख काई ।
देह विनासी, मैं निज भासी, ज्योति स्वरूप सदाई ॥ ५ ॥

विषय-कषायनके वश होकर, देह आपनो जानो ।
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नाहिं पिछानो ॥
यो क्लेश हिय धार मरण कर, चारो गति भरमायो ।
सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चरन ये, हिरदेमे नहिं लायो ॥ ६ ॥

अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह मागो ।
रोग जनित पीड़ा मत होहू, अरु कषाय मत जागो ॥
ये मुझ मरण समय दुख दाता, इन हर साता कीजे ।
जो समाधि-युत मरण होय मुझ, अरु मिथ्या-गद छीजे ॥ ७ ॥
यह तन सात कुधातमई है, देखत ही घिन आवै ।
चर्म लपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्ठा पावै ॥
अति दुर्गन्ध, अपावन सो यह, मूरख प्रीति बढावै ।
देह विनाशी, यह अविनाशी, नित्य स्वरूप कहावै ॥ ८ ॥
यह तन जीर्ण कुटी सम आतम ! यातैं प्रीति न कीजै ।
नूतन महल मिले जब भाई, तब यामे क्या छीजै ॥
मृत्यु भयेतैं हानि कौन है, याको भय मत लावो ।
समतासे जो देह तजोगे, तो शुभ तन तुम पावो ॥ ९ ॥
मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, इस अवसरके मांही ।
जीरन तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं ॥
यासेती इस मृत्यु समयपर, उत्सव अति ही कीजै ।
क्लेश-भावको त्याग सयाने, समता-भाव धरीजै ॥ १० ॥
जो तुम पूरव पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई ।
मृत्यु-मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग-सम्पदा भाई ॥
राग-द्वेषको छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई ।
अन्त समयमे समता धारो, परभव पन्थ सहाई ॥ ११ ॥
कर्म महा दुठ बैरी मेरो, तासेती दुख पावै ।
तन पिंजरेमे बन्द कियो मोहि, यासो कौन छुड़ावै ॥
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तनमे गाढे ।
मृत्युराज अब आय दया कर, तन पिंजरेसे काढे ॥ १२ ॥
नाना वस्त्राभूषण मैने, इस तनको पहिराये ।
गन्ध सुगन्धित अतर लगाये, षट्‌रस अशन कराये ॥
रात-दिना मै दास होय कर, सेव करी तन केरी ।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी ॥ १३ ॥
मृत्युराजको शरण पाय तन, नूतन ऐसो पाऊँ ।
जामे सम्यक् रतन तीन लहि, आठो कर्म खपाऊँ ॥
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाहीं ।
मृत्यु-समयमे ये ही परिजन सब ही है दुखदाई ॥ १४ ॥

यह सब मोह बढ़ावनहारे, जियको दुर्गति-दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख-साता॥
मृत्यु-कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पावो सम्पति तेती॥ १५॥

चौ आराधन सहित प्राण तज, तौ ये पदवी पावो।
हरि, प्रतिहरि, चक्री, तीर्थेश्वर, स्वर्ग, मुकतिमे जावो॥
मृत्यु-कल्पद्रुम सम नहि दाता, तीनो लोक मझारे।
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे॥ १६॥

इस तनमे क्या राचे जियरा, दिन-दिन जीरन हो है।
तेज, कान्ति, बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है॥
पाँचो इन्द्री शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहि आवै।
ता पर भी ममता नहि छोड़े, समता उर नहि लावै॥ १७॥

मृत्युराज उपकारी जियको, तनसे तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृहमे, परयो-परयो बिललावै॥
पुद्गलके परिमाणू मिलके, पिंडरूप तन भासी।
यही मूरती मै अमूरती, ज्ञान-ज्योति गुण-रासी॥ १८॥

रोग-शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारे।
मै तो चेतन व्याधि विना नित, है सो भाव हमारे॥
या तनसे इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बनो है।
खान पान दे याको पोषो, अब समभाव ठनो है॥ १९॥

मिथ्यादर्शन आत्म-ज्ञान-विन, यह तन अपनो जानो।
इन्द्री भोग गिने सुख मैने, आपो नाहि पिछानो॥
तन विनशनतै नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई।
कुटुम्ब आदिको अपनो जानो, भूल अनादी छाई॥ २०॥

अब निज भेद यथारथ समझो, मै हूँ ज्योति-स्वरूपी।
उपजै विनसै सो यह पुद्गल, जानो याको रूपी॥
इष्ट अनिष्ट जेते सुख दुख है, सो सब पुद्गल सागे।
मै जब अपनो रूप विचारो, तब वे सब दुख भागे॥ २१॥

विन समता तन नन्त धरे मै, तिनमे ये दुख पायो।
शस्त्र-घाततै नन्त बार मर, नाना योनि भ्रमायो॥
बार नन्त ही अग्नि माहि जर, मूवो सुमति न लायो।
सिंह, व्याघ्र, अहि नन्त बार मुझ, नाना दु:ख दिखायो॥ २२॥

तिन समाधि ये दुःख लहे मै, अब उर समता आई।
मृत्युराजको भय नहिं मानो, देवै तन सुखदाई॥
यातें जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजै।
जप-तप-विन इस जगके माँही, कोई भी ना सीजै॥ २३॥
स्वर्ग-सम्पदा तपसे पावै, तपसे कर्म नशावै।
तपहींसे शिव-कामिनि-पति ह्वै, यासो तप चित लावै॥
अब मै जानी समता विन मुझ, कोऊ नाहि सुहाई।
मात, पिता, सुत, बाधव, तिरिया, ये सब है दुखदाई॥ २४॥
मृत्यु-समयमे मोह करै ये, तातै आरत हो है।
आरततै गति नीची पावै, यो लख मोह तजो है॥
और परिग्रह जेते जगमे, तिनसे प्रीति न कीजे।
परभवमे ये सग न चाले, नाहक आरत कीजे॥ २५॥
जे जे वस्तु लसत हैं ते पर, तिनसे नेह निवारो।
परगतिमे ये साथ न चालै, ऐसो भाव विचारो॥
जो परभवमे सग चलै तुझ, तिनसे प्रीति सु कीजे।
पँच पाप तज, समता धारो, दान चार विध दीजे॥ २६॥

दश-लक्षणमय धर्म धरो उर, अनुकम्पा चित लावो।
षोडश कारण नित्य चिन्तवो, द्वादश भावन भावो॥
चारो परवी प्रोषध कीजे, अशन रातको त्यागो।
समता धर दुर्भाव निवारो, सयमसो अनुरागो॥ २७॥

अन्त समयमे ये शुभ भावहि, होवै आनि सहाई।
स्वर्ग-मोक्ष फल तोहि दिखावै, ऋद्धि देहि अधिकाई॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उरमे समता लाके।
जासेती गति चार दूर कर, बसो मोक्षपुर जाके॥ २८॥

मन थिरता करके तुम चिन्तो, चौ आराधन भाई।
ये ही तोको सुखकी दाता, और हितु कोई नाई॥
आगे बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भाई।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी॥ २९॥

तिनमे कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाके।
भाव सहित अनुमोदै तासे, दुर्गति होय न जाके॥
अरु समता जिन उरमे आवै, भाव अधीरज जावै।
यो निशदिन जो उन मुनिवरको, ध्यान हिये विच लावै॥ ३०॥

धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी।
एक श्यालनी जुग वच्चा जुत, पांव भखो दुखकारी॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है मृत्यु महोत्सव-वारी॥ ३१॥
धन्य-धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्रीने तन खायो।
तौ भी श्री मुनि नेक डिगे नहि, आतम सो हित लायो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३२॥
देखो गजमुनिके सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु वारी।
शीश जले जिम लकड़ी तिनको, तौ भी नाहि चिगारी॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३३॥
सनतकुमार मुनीके तनमे, कुष्ट वेदना व्यापी।
छिन्न-भिन्न तन तासो हूवो, तव चिन्तो गुण आपी॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३४॥
श्रेणिक सुत गङ्गामे डूवो, तव जिन नाम चितारो।
धर सल्लेखना परिग्रह छांड़ो, शुद्ध भाव उर धारो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३५॥

सुमन्तभद्र मुनिवरके तनमे, क्षुधा वेदना आई।
ता दुखमे मुनि नेक न डिगियो, चिन्तो निज गुण भाई॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३६॥

ललितघटादिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बी तट जानो।
नद्दीमे मुनि वहकर मूवे, सो दुख उन नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३७॥

धर्मघोष मुनि चम्पा नगरी, बाह्य ध्यान धर ठाढ़ो।
एक मासकी कर मर्यादा, तृषा दुख सह गाढो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ३८॥

श्रीदत्त मुनिको पूर्व जन्मको, बैरी देव सु आके।
विक्रय कर दुःख शीततनो सो, सहो साध मन लाके॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥ ३९॥
वृषभसेन मुनि उष्ण शिलापर, ध्यान धरो मन लाई।
सूर्य घाम अरु उष्ण पवनकी, वेदन सहि अधिकाई॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौं तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ४०॥
अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महा वेदना पाई।
वैरी चण्डने सब तन छेदे, दुख दीनो अधिकाई॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ४१॥
विद्युतचरने बहु दुख पायो, तौ भी धीर न त्यागी।
शुभ भावनसे प्राण तजे निज, धन्य और बडभागी॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥ ४२॥
पुत्र चिलाती नाना मुनिको, बैरीने तन घातो।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण रातो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥ ४३॥
दण्डक नामा मुनिकी देही, बाणन कर अरि भेदी।
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म-महारिपु छेदी॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी॥ ४४॥
अभिनन्दन मुनि आदि पाच सै, घानी पेलि जु मारे।
तौ भी श्रीमुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥ ४५॥
चाणक मुनि गोघरके माहीं, मूँद अगिनि पर जालो।
श्रीगुरु उर समभाव धारके, अपनो रूप सम्हालो॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव बारी॥ ४६॥

सात शतक मुनिवरने पायो, हथनापुरमे जानो।
बलि ब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो ॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी ॥ ४७ ॥
लोहमयी आभूषण गढ़के, ताते कर पहिराये।
पाचो पाण्डव मुनिके तनमे, तौ भी नाहिं चिगाये ॥
यह उपसर्ग सहो धर थिरता, आराधन चितधारी।
तौ तुमरे जिय कौन दुक्ख है, मृत्यु-महोत्सव वारी ॥ ४८ ॥
और अनेक भये इस जगमे, समता-रसके स्वादी।
वे ही हमको हो सुखदाता, हरहैं टेव प्रमादी ॥
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरण, तप, ये आराधन चारो।
ये ही मोको सुखकी दाता, इन्हे सदा उर धारो ॥ ४९ ॥
यो समाधि उर माही लावो, अपनो हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठो मदको, जोति-स्वरूपी ध्यावो ॥
जो कोई निज करत पयानो, ग्रामान्तरके काजै।
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ-शुभ कारण साजै ॥ ५० ॥
मात पितादिक सर्व कुटुम्ब सो, नीके शकुन बनावै।
हलदी, धनिया, पुङ्गी, अक्षत, दूध, दही, फल लावै ॥
एक ग्रामके कारण एते, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगतिको करत पयानो, तब नहिं सोचें प्यारे ॥ ५१ ॥
सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावै सारे।
ये अपशकुन करें सुन तोकों, तूं यो क्यो न विचारे ॥
अब परगतिको चालत विरिया, धर्म ध्यान उर आनो।
चारो अराधन अराधो, मोह तनो दुख आनो ॥ ५२ ॥
ह्वै निशल्य तजो सब दुविधा, आतमराम सुध्यावो।
जब परगतिको करहु पयानो, परम-तत्व उर लावो ॥
मोह-जालको काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो, यो उर निश्चय धारो ॥ ५३ ॥

दोहा

मृत्य-महोत्सवपाठको, पढो सुनो बुद्धिवान्।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द्र शिवथान ॥ ५४ ॥
पञ्च उभय नव एक नभ, सम्बत् सो सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कहो पाठ मन लाय ॥ ५५ ॥

२. (घ) समाधि-मरण-भावना

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ। (टेक)
देहान्तके समयमे, तुमको न भूल जाऊँ ॥
शत्रु अगर कोई हो, सन्तुष्ट उनको कर दूँ।
समताका भाव धर कर, सबको क्षमा कराऊँ ॥
त्यागूँ अहार-पानी, औषधि विचार अवसर।
टूटे नियम न कोई, दृढता हृदयमे लाऊँ ॥
जागें नही कषायें, नहि वेदना सतावे।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यानको भगाऊँ ॥
आतम-स्वरूप, वा चतु-आराधना विचारूँ।
अरहन्त-सिद्ध-साधू, रटना यहीं लगाऊँ।
धर्मात्मा निकट हो, चर्चा धरम सुनायें ॥
वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ ॥
जीनेकी हो न बाछा, मरने की हो न इच्छा।
परिवार-मित्र जनसे, मै मोहको हटाऊँ ॥
भोगे जो भोग पहले, उनका न होवे सुमरण।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्रका न चाहू ॥
वृष रत्न तीन पालन, हो अन्तमे समाधी।
बस प्रार्थना यही है, जीवन सफल बनाऊँ ॥



शुद्धिपत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पंक्ति
जिसमे (प्रका० प्र० स०)	जिसमे	६	५
समधियो	समिधियों	७	३
क्षमादिर्मिमहान्	क्षुधादिभिर्महान्	१३	१६
भोजनैर्यैर्न	भोजनैर्यैर्न	१६	१८
गण्येन्महत्	गणयेन्महत्	२१	२३
क्षुदुःखं	क्षुद्दुःख	२२	१६
विशुद्धया	विशुद्ध्या	३३	२१
विशुद्धया	विशुद्ध्या	३४	२
दन्तकृत्केवली	दन्त कृत्केवली	५४	२
सर्व	सर्प	५६	६

पृष्ठ ३२ के श्लोक ११९-१२० का छूटा अर्थ

अहो भव्यात्मन् ! एक दृग्विशुद्धिके द्वारा अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शनके धारण करने रूप सम्यक्त्वाराधनासे ज्ञान-चारित्रादि सभी आराधनाओ-को शुद्धि स्वयमेव विना किसी प्रयत्नके शीघ्र हो जाती है। अतएव दृग्विशुद्धिके विना शेष आराधनाएँ निरर्थक हैं अर्थात् किसी भी अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेमे समर्थ नही हैं। ऐसा जानकर समाधिमरणके स्वीकार करनेवाले क्षपकोको ज्ञानादि शेष आराधनाओकी शुद्धिके लिये सर्वप्रकारके (सातो) भयो और (पच्चीस) दोषोका विनाश कर सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करना चाहिये ॥ ११९,१२० ॥